नये साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र

नये साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र

लेखक
गजानन माधव मुक्तिबोध





राधाकृष्ण प्रकाशन

प्रकाशक
अरविन्दकुमार
राधाकृष्ण प्रकाशन
२ अंसारी रोड दरियागंज
दिल्ली ६

दो शब्द

स्वर्गीय पिताजी की अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाशित करवाने के लिए अनेक साहित्यकारों ने बार-बार मुझे प्रेरित किया। उनके समकालीन साहित्यकारों तथा अनेक युवा लेखकों से समय-समय पर उनकी प्रकाशित अप्रकाशित पूर्ण-अपूर्ण रचनाओं पर चर्चा होती रही। फलतः तमाम रचनाओं की खोज की एक योजना बनायी गयी। पिताजी की हरेक साहित्यिक विधा को अलग-अलग किया। उनकी प्रतिलिपियां उतारी। स्वाभाविक ही इसमें काफी समय लगा। अब तक की खोज के परिणाम स्वरूप एक उपन्यास प्रकाशित हो चुका है तथा एक कहानी-संग्रह प्रेस में है। इनके अलावा एक कविता-संग्रह जो शीघ्र प्रकाशित हो रहा है और यह महत्त्वपूर्ण कृति प्रस्तुत है।

शेष रचनाएँ भी शीघ्र ही श्री गजानन माधव मुक्तिबोध के पाठकों के सामने प्रकाशित रूप में आ जायेंगी ऐसी संभावना है।

भिलाई नगर

रमेश गजानन मुक्तिबोध

क्रम

रचनाकार का मानवतावाद

नयी कविता पर विचार करते करते मैं यह सोचने लगता हूँ कि उसमें प्रेरणामय मानवतावादी दृष्टि होनी चाहिए। किन्तु इस प्रकार कुछ कह देने से नयी कविता में या किसी भी कविता में वे गुण उत्पन्न नहीं हो सकते कि जिनका आग्रह मैं कर रहा हूँ या दूसरे कर रहे हैं। प्रेरणामय मानवतावादी भावधारा उसमें तब तक उत्पन्न नहीं हो सकती जब तक कि समाज में या जीवन-जगत में मानवतावादी भावधारा का उत्कट और व्यापक प्रभाव न हो अथवा रचनाकार का ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व न हो कि जैसा मान लीजिए वाल्ट व्हिटमन का था। यदि कुछेक समीक्षकों और विचारकों के अनुरोधों और आग्रहों से कविता का रूप रंग बन पाता तो न मालूम कितने ही समीक्षकों और विचारकों के भिन्न भिन्न आग्रहों और अनुरोधों के अनुसार कविता के भिन्न भिन्न रूप रंग हो जाते। लेकिन ऐसा नहीं हो पाता, न ऐसा होना चाहिए। क्यों, ऐसा क्यों नहीं होना चाहिए ! !

यह इसलिए नहीं होना चाहिए कि काव्य में—साहित्य में चूँकि आभ्यन्तरिकृत जीवन-दृष्टि प्रकट होती है इसलिए जब तक कि रचनाकार बाह्य अनुरोधों और आग्रहों को स्वीकार करके उनमें प्राप्त सत्यों के अनुसार जीवन का आभ्यन्तरीकरण नहीं करता तब तक वह नवीन दृष्टि से अर्थात् उन अनुरोधों और आग्रहों को, अन्तर में स्थान देकर उनकी क्रियाशील शक्ति से आभ्यन्तरित जीवन को काव्य में कलात्मक रूप से प्रकट नहीं कर सकता। और यदि वह इस प्रकार के आभ्यन्तरीकरण के बिना रचना उपस्थित करता है तो निस्सन्देह उसकी उस रचना में कलात्मक गुण उत्पन्न नहीं होंगे—ऐसे गुण जो प्रभावकारी हों। दूसरे शब्दों में उनमें वह सौन्दर्य उत्पन्न नहीं होगा जो कलाकृति के लिए आवश्यक होता है।

तो मुख्य प्रश्न बाह्य अनुरोधों और आग्रहों की दृष्टि से जीवन के आभ्यन्तरीकरण का है अर्थात अपने व्यक्तित्व में—अपने कलात्मक व्यक्तित्व के संशोधन तथा पुनः संशोधन का है, न कि केवल नवीन दृष्टि की अभिव्यक्ति का। दूसरे

शब्दों में, मुक्त प्रश्न कलाकार की जीवन्त संवेदनशील मानसिकता का है। उसकी मानसिक संवेदनशीलता का है जो अन्तर्बाह्य सत्यों का आकलन ग्रहण तथा संवेदना-संशोधन किया करता है।

अतः जो बाह्य प्रतीत होते हैं वे आग्रह और अनुरोध जब कलाकार के अन्तःकरण में स्थान ग्रहण कर लेते हैं और अपनी क्रियाशील शक्ति के द्वारा संवेदनात्मक अनुभवों को तथा अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न व्यवस्था में (और उस अन्तर्दृष्टि में) तदनुसार परिवर्तन उत्पन्न करने लगते हैं तब यह कहा जा सकता है कि मानसिक जीवन अपने ढंग का एक विशेष और विशिष्ट प्रकार से आत्मसंस्कार हो रहा है। संवेदनात्मक अनुभवों की संगति में न अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न व्यवस्था बनी है।। संवेदनात्मक अनुभवों में गहन जीवन भावनाओं के मूल होते हैं व मूल ही संवेदनात्मक अनुभवों से उनके ही उन्नत सुसंगत अन्तर्दृष्टि हैं। इन जीवन आलोचनाओं द्वारा निजगत निबद्ध और संवेदनापित होता है कि उनको संवेदनात्मक अनुभवों से विच्छिन्न करके पृथक रूप में स्थापित करना कदापि सम्भव नहीं है। वे हमारे संवेदनात्मक जीवन ही के इतिहास का एक अंग हैं।

तात्पर्य यह कि बाह्य आग्रहों और अनुरोधों के आत्मसात्करण की क्रिया सम्भव तो है किन्तु अन्तःकरण में स्थित होकर उन अनुरोधों की क्रियाशील शक्ति जब तक इतनी सक्षम और समर्थ नहीं हो जाती कि वे अनुरोध गहन संवेदनात्मक अनुभवों की अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न व्यवस्था का सम्पादन-संशोधन और पुनर्गठन कर सकें—जब तक वह इतनी सक्षम और समर्थ नहीं हो जाती कि लेखक की अपनी मूलभूत प्रेरणा बन सकें और लेखक की अपनी मूलभूत प्रेरणा बनकर उसके अन्तर्जगत की व्यवस्था का पुनर्रचित और पुनर्निरूपित कर सकें तब तक लेखक के द्वारा स्वीकृत वे बाह्य अनुरोध और आग्रह केवल सतही ढंग से उसके मन में रटे रहे हैं—यही तो कहा जायेगा।

लेखक के अन्तर्जीवन—संवेदनशील अन्तर्जीवन के संशोधन-परिष्करण का कार्य इतना सरल नहीं है—भले ही लेखक स्वयं उसे करे। वह एक क्रमशः विकसित विवेक की क्रियाशीलता के बिना असम्भव ही है। किन्तु केवल विवेक भी अपने आप में कुछ नहीं कर सकता जब तक संवेदनात्मक अनुभवों का वह स्वयं अंग नहीं बन जाता—आन्तरिक मानसिक-संवेदनात्मक प्रवाह का जब तक वह बेमालूम ढंग से अंग नहीं बन जाता। दूसरे शब्दों में संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना की एकमेक स्थिति जब तक उपस्थित नहीं हो जाती तब तक वह विवेक अन्तर में भी संवेदनात्मक जीवन का अंग न होगा।

आन्तरिक जीवन के अपने भीतरी विरोध होते हैं अपना तनाव होता है। उसमें पनपने और तड़पने वाले अनेकानेक मूल्यवान अनुभव और महत्त्वपूर्ण सत्य अभिव्यक्ति—कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर पाते। क्या प्राप्त नहीं कर

पाते ?

केवल वे ही संवेदनात्मक अनुभव केवल वे ही अनुभवात्मक सत्य कलात्मक अभिव्यक्ति पा लेते हैं जो लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्यों के—रचना उपस्थित करने वाले संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार होते हैं। रचना उपस्थित करने वाले संवेदनात्मक उद्देश्य किस प्रकार के होते हैं ?

क्या यह सत्य नहीं है कि अपने जीवन में प्राप्त विशेष अनुभवों और विशेष भाव प्रेरणाओं को ही लेखक प्रकट करता है तथा इतर अनुभवों और भाव प्रेरणाओं को वह व्यक्त नहीं करना चाहता या उन्हें व्यक्त करने की व्याकुलता उसमें उत्पन्न नहीं हो पाती। रचना प्रसूत करने वाले उसके संवेदनात्मक उद्देश्य उन विशेष व्याकुलताओं की ही एक शाखा हैं कि जो व्याकुलताएँ अनुभूत जीवन के किसी विशेष अंग या क्षेत्र ही से सम्बद्ध होती हैं और उन्हीं से उत्पन्न या निष्पन्न होती हैं शेष अनुभवात्मक जीवन उनसे अलग रह जाता है अर्थात कलात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने के लिए आतुर नहीं होता। क्या यह सत्य नहीं है ! !

कलात्मक रचना का मनोविज्ञान निःसन्देह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। कलाकार बाह्य अनुरोधों और आग्रहों को स्वीकार करके भी और तदनुसार अपने अन्तस्तत्त्वों की व्यवस्था का संस्कार करते हुए भी उन अनुरोधों और आग्रहों को कलाकृति में अवतरित करे ही यह आवश्यक नहीं होता—अर्थात वह वैसा करेगा ही, यह अनिवार्य नियम नहीं है—इसके विपरीत बहुधा यह देखा गया है कि लेखक चुप हो जाता है (संभवतः इसके कारण तरह-तरह के होंगे) अथवा वह अपनी दिशा बदल देता है या वह संकल्पशील कर्म-जीवन में प्रविष्ट होकर उनकी पूर्ति करने लगता है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आभ्यन्तरीकृत अनुरोध तथा आग्रह कलाकृति में व्यक्त नहीं होते या उनके अनुसार कलाकृति निर्मित नहीं होती नहीं हुआ करती। यह सब-कुछ कलाकार की उन आन्तरिक व्याकुलताओं पर निर्भर है, जिन्हें मैंने पहले संवेदनात्मक उद्देश्य कहा।

सब बात तो यह है कि सब कुछ कलाकार के व्यक्तित्व निर्माण के इतिहास उसके संवेदनात्मक जीवन के इतिहास और उन सबसे बने हुए रुचि-स्वभाव पर निर्भर है।

किन्तु ऊपर जो पचीनगियाँ बताई गई हैं उनका मतलब यह नहीं है कि लेखक कलाकार बाह्य अनुरोधों या आग्रहों को स्वीकार नहीं करता ! ! अथवा उसके स्वभाव से जो भिन्न और बाह्य हैं—अर्थात वैसे अनुरोध—उनका वह विरोध ही करता रहता है। नहीं यह बात नहीं।

इसके विपरीत सच्चा संवेदनशील लेखक-कलाकार अपने को बाह्य प्रभावों

को ग्रहण करते नित छुड़ा छोड़ देता है या उसे छोड़ देना चाहिए। कलाकार ना
जितना महान् क्यो न हो जीवन जगत की तुलना म उसका अन्तर छोटा ही है।
इसीलिए वह जीवन जगत् के विम्बो प्रेरणापूर्ण दृश्यो और विचारधाराओ के
सारतत्त्व को पीता रहता है या पीते रहना चाहिए।

इस प्रकार की प्रवृत्ति यदि उसमे है तो वह बाह्य अनुरोधो और आग्रहो को
अपने संवेदनशील विवेक द्वारा ग्रहण कर उन्हे अपने ढग मे आत्मसात् करता
रहता है। लेखक स्वीकार भले ही इस तथ्य को अस्वीकार कर दे कि वह बाह्य
अनुरोधो या आग्रहो को स्वीकार नही मानता किन्तु सच तो यह है कि वह अपने
ढग से उन्हे किसी न किसी रूप मे स्वीकार करता रहता है। यही नही और निरन्तर
भी उस सत्य का निर्वाह करता है उस सन्दर्भ को सोख लेता है। निस्सदेह यह
आत्मसातकरण उसके अपने अन्तर्जीवन से सम्बद्ध है। वह उन सत्यो को
अपने संवेदनशील अन्तर्जीवन म मिला लेता है। इस प्रकार क्रमश लेखक के
व्यक्तित्व का विकास होता जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि लेखक बहुत बार बाह्य अनुरोधो या आग्रहो को
स्वीकार करके उन्हे आत्मसात् करके अपने संवेदनात्मक अन्तर्जीवन म मिलाकर
भी या तो चुप हो जाता है या अपनी दिशा बदलकर संकल्पशील कर्म जीवन म
प्रविष्ट हो जाता है। किन्तु आत्मसात्कृत उन बाह्य अनुरोधो या आग्रहो म अनु
सार कलाकृति उपस्थित नही कर पाता।

यदि हम यह मान लें कि वे बाह्य अनुरोध और आग्रह उसके अन्तर्जीवन के
इतिहास का अंग बन चुके है उसके प्रेरक तत्त्व बन चुके है तो क्या कारण है कि वह
वैसी कलाकृतियाँ उपस्थित नही कर पाता।।

इसका सभवत एक कारण यह है कि लेखक के पास उस प्रकार की अभि
व्यक्ति का अभ्यास नही है कि जैसी अभिव्यक्ति उन अनुरोधो और आग्रहो की
दिशा म चलने के लिए आवश्यक है।

अभिव्यक्ति का अभ्यास कलाकार का एक मुख्य कर्तव्य है। सूचित दिशा म
चलने के लिए अनवरत अभ्यास की आवश्यकता है। होता यह है कि लेखक अपने
नवीन अनुरोधो (बाह्य अनुरोधो के आत्मसात् प्रभावो से उत्पन्न आग्रहो) द्वारा
प्रेरित होकर चलता तो है उसके पास कहने के लिए भी बहुत-कुछ होता है
किन्तु तदनुसार सक्षम अभिव्यक्ति के विकास के प्रारम्भिक चरण म होने से वह
आत्मविश्वास खो देता है। नवीन अनुरोध नवीन कथ्य ले आते है उन कथ्यो
को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करना सरल कार्य नही होता। उन कथ्यो को
व्यक्त करने के लिए प्रभावोत्पादक कलात्मक रूप से प्रस्तुत करने के लिए तदनु
सरणशील अभिव्यक्ति पद्धति का विकास करना पड़ता है। अतएव लेखक
वस्तुत शुरू म सक्षम अभिव्यक्ति के विकास के प्रारम्भिक चरण ही मे लड़खड़ाता।

रहता है !!

क्या लडखडाता रहता है !! इसलिए, अबतक उसने जिस अभिव्यक्ति पद्धति और सौन्दर्याभिरुचि का विकास किया है वह—एस्थेटिक पटर्न—नवीन कथ्य की अनुगामिनी सक्षम अभिव्यक्ति के पथ पर चलने वाले मन को मोडते रहते हैं भावों और शब्दों को व्यवस्था-बद्ध करने वाली उसकी (गलत शब्दों और अनायास उत्पन्न हुए किन्तु सन्दर्भ न रखने वाले भावों और शब्दों का स्वीकार करने वाली उसकी) आलोचन-संशोधन-सम्पादन दृष्टि में बाधा और व्यतिरेक सन्देह और शंका उत्पन्न कर देते है। बार बार यह घटना होने पर लेखक उस विषय-क्षेत्र के उस पथ पर आत्म विश्वास खो देता है लडखडा जाता है और हाथ में लिया हुआ काम फेंक देता है।

किन्तु यदि वह कथ्य अन्तर्जीवन में स्थायी बना हुआ है, उस कथ्य को संवेदन करने वाली अन्तर्बाह्य स्थिति-परिस्थितियां बराबर बनी हुई हैं देश समाज और साहित्य क्षेत्र का वातावरण ऐसा है कि उस विशेष प्रकार के कथ्य को महत्त्व प्राप्त हो गया है तो लेखक श्रमपूर्वक, तथा पुनः-पुनः प्राप्त असफलताओं के बावजूद सक्षम अभिव्यक्ति प्राप्त करने के बारम्बार प्रयत्न में स्वयं कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है। और साहित्य-क्षेत्र में, निज विशिष्ट स्थान बना लेता है।

मनुष्य का स्वभाव है कि जो सुकर है जो सुगम है उसे अपनाता है जो कठिन है, जो श्रम साध्य है उसे वाञ्छित मूल्य प्रदान करते हुए भी अपनाता नहीं। उसकी यह आदत अपने जीवन ही के मूल्यवान् तत्त्वों को अभिव्यक्ति प्रदान नहीं करने देती। परिणामतः स्वयं के ही कुछ आवर्त और पुनरावर्त भावों और अभिव्यक्ति-पद्धति का—भले ही वे उसके जीवन में वस्तुतः विशेष स्थान न रखते हों दुहराता रहता है उन्हीं की जुगाली करता रहता है। परिणामतः उसका वास्तविक अन्तर्जीवन (और उसका व्यक्तित्व तथा जीवन प्रसंग भले ही किसी अन्य उपन्यासकार का विषय हो जाएँ) उसकी कला में व्यक्त नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में, यह कहना कि कलाकृति में कवि-कलाकार आत्मोद्घाटन करता है अत्यन्त संकुचित और वायवीय अर्थ ही में सही हो सकता है।

कलाकृति में व्यक्त भाव किन्हीं विशेष सन्दर्भों में लेखक के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। कोई लेखक मात्र आत्मग्लानि अथवा कोई बुभुक्षित वासना का दमित रूप अथवा अन्य कोई सामाजिक आलोचन प्रकट करता है। किन्तु जो विशेष भाव लेखक प्रकट करता है केवल वे ही उसके हृदय में हैं तथा अन्य नहीं, यह मानना गलत है। होता यह है कि लेखक व्यक्त किए जाने वाले भावों को कोई अतिरिक्त मूल्य प्रदान करता है शेष भावों को नहीं। परिणामतः केवल वे ही भाव तथा उनके आसपास लगे हुए भाव ही वह प्रकट करता है। शेष को

छोड देता ह। दूसरे शब्दो म लेखक अपनी मूल्य भावना के अनुसार आभ्यन्तर भावो को प्रस्तुत करता ह। और उसके अन्त करण म एक मूल्य भावना होती ह जो उसे किन्ही विशेष भावो को प्रकट करने के लिए तयार करती रहती है। दूसरे शब्दो म लेखक अपना एक एस्थेटिक्स तयार कर लेता ह।

पहले ही यह बताया जा चुका है कि लेखक के अन्त करण म सवेदनात्मक अनुभवो की गहन अन्तर्दृष्टि सम्पन्न व्यवस्था विकसित होती रहती ह, (ऐसी व्यवस्था अपने अपने ढग से प्रत्येक के हृदय म विकसित होती रहती ह) सवेदनात्मक अनुभवो की यह गहन अन्तर्दृष्टि सम्पन्न व्यवस्था क्या ह ? सवेदनात्मक अनुभवो म गहन जीवन आलोचन के जो सूत्र होते हैं वे सूत्र ही सवेदनात्मक अनुभवो से उत्पन्न या उनसे सयुक्त अन्तर्दृष्टि हैं। यह जीवन आलोचन इतना निज गत निज-बद्ध और सवेदनायित होता ह कि उसको सवेदनात्मक अनुभवो से विच्छिन्न करके, पथक रूप से, स्थापित करना कदाचित सभव नही है। वे हमारे सवदनात्मक जीवन के ही इतिहास का एक अग है।

दूसरे शब्दो म मानव अन्त करण मे आलोचन धर्म मूलभूत ह। वह सवेदनात्मक अनुभवो से प्राथमिक अवस्था मे अविच्छिन्न होता है। किन्तु आगे चलकर वह सामान्यीकरणो के रूप मे जीवन-तथ्यो के सामान्यीकरणो के रूप म प्रकट होता ह। इस प्रकार मानव अन्त करण म सवेदनात्मक आधारो पर अनुभवात्मक आधारो पर एक विशेष प्रकार की जीवन ज्ञान-व्यवस्था उत्पन्न और विकसित हो जाती ह। यह जीवन ज्ञान-व्यवस्था मूल्य भावनाओ और आलोचन-सूत्रो को अपने म सम्मिलित किए रहती है। सक्षेप मे, जीवन ज्ञान व्यवस्था म मूल्य भावना और आलोचन सूत्र होते ही हैं। यह जीवन ज्ञान-व्यवस्था जीवन-यात्रा के क्रम म विकसित होती जाती ह। किन्तु यह आवश्यक नही है कि इसके अन्तर्गत समाया हुआ जो विश्व-बोध या जीवन-जगत-बोध ह, जो मूल्य भावना ह जो विचार व्यवस्था ह जो आलोचन सूत्र हैं वे परिष्कृत हो निज बद्धता स परे होकर वे सशोधित-सम्पादित किए गए हो।

इस जीवन ज्ञान-व्यवस्था की विचार-व्यवस्था की एक विशेषता ध्यान म रखने योग्य ह। उसम जीवन-व्याख्यान के जो सूत्र होते हैं वे उस दृष्टि से अग हैं कि जो दृष्टि भोक्तामन ने जीवन-यात्रा म निजगत प्रयासो और बाह्य प्रभावो स प्राप्त और विकसित की ह। यह दृष्टि और मूल्य भावना बाह्य और अन्तर के योग से प्राप्त और विकसित की ह। चूकि उसकी वास्तविक जीवन प्रणाली एक विशेष वर्ग क क्षेत्र म ही चलती रहती है अतएव उस वर्ग म प्रचलित सामान्य भाव धारा भी उसके विकास म सहयोग प्रदान करती ह। इस प्रकार, उस मूल्य भावना तथा दृष्टि क विकास म जितना निजगत योग ह उतना ही पारिवारिक तथा वर्गीय क्षेत्रो का भी उसके विकास म सहयोग है। इस प्रकार, एक ही साथ,

वह दृष्टि निजगत तथा जीवन-क्षत्रगत अर्थात वगगत प्रयासा के योग का एक परिणाम है, भले ही सवेदना के रूप मे अनुभूति के रूप म, उसके तत्त्व तथा काय निजी मालूम हो।

सवेदनात्मक अनुभवात्मक आधारा पर उपस्थित यह जो विचार-व्यवस्था ह यह जो जीवन ज्ञान-व्यवस्था ह वह उसके साहित्य म, उसकी रचना म, उसकी कलाकृति म तरह-तरह स प्रकट होती है। मेरे अपने खयाल स वह मुख्यत दो प्रकार से होती है। एक तो वह भाव दृष्टि, जीवन आलोचन, जीवन विवेक अथवा विचार चित्रण या भावाकन के रूप म प्रकट होती ह। किन्तु इसके अतिरिक्त, वह कलात्मक विवेक का रूप धारण कर कला-सम्बधी विचारधारा भी बन जाती ह और उसके प्रभाव से वह कलाकृति का अन्तर्बाह्य सगठन भी करती ह।

किन्तु महत्त्व की बात यह है कि उसके अ त करण म स्थित यह जो जीवन-ज्ञान-व्यवस्था ह—जिसके मूल-जाल सवेदनात्मक अनुभवात्मक होते है उस जीवन ज्ञान-व्यवस्था को जीवन जगत की व्याख्या के साथ अर्थात किसी व्यापक विचार धारा के साथ, किसी दशन के साथ, जोडन का प्रयत्न होता रहता ह। एक ओर लेखक स्वय जीवन जगत की व्याख्या चाहता ह तो दूसरी ओर साहित्य क्षेत्र म विभिन्न प्रकार की विचार धाराएँ और दशन जीवन-जगत की व्याख्या को लेकर उपस्थित होती हैं। इस प्रकार लखक के अन्त करण म उपस्थित सवेदनात्मक-अनुभवात्मक जीवन ज्ञान व्यवस्था के साथ जीवन-जगत की दाशनिक व्यवस्था का समन्वय हो जाता ह और वह दाशनिक धारा लखक को आत्मविस्तार के रूप मे ही दिखाई देती ह।

यह आवश्यक नहीं है कि लेखक जिस जीवन ज्ञान-व्यवस्था को लेकर चलता ह उसमे विकास नहीं होता अथवा जिस दाशनिक धारा को लेकर चलता ह, उसम वह अपनी ओर स कोई नवीन तत्त्व नहीं जोडता।

इसके विपरीत, वह स्वय भी अपन आपको उस दाशनिक धारा द्वारा परिपुष्ट करता ह अपन स्वय की जीवन ज्ञान व्यवस्था का व्याख्यान उस दाशनिक धारा की सहायता से करता है साथ ही उस दाशनिक धारा को वह अपनी विशेष दृष्टि से व्याख्यात करता हुआ उसमे नवीन अथ भर देता ह।

किन्तु, जब तक विकास प्राप्त जीवन ज्ञान व्यवस्था जो लेखक के अन्त करण मे स्थित होती ह और कलाकृति म किसी न किसी रूप म प्रकट होती ह, वह नवीन जीवन परिस्थितियों की पचीदगियों मे पडकर नवीन जीवन प्रसगो मे ठेस खाकर जब नवीन तत्त्व ग्रहण करने लगती ह तब ऐसे नवीन सवदनात्मक अनुभव तत्त्वों के स्तर के स्तर हृदय मे बन जाने के उपरान्त या तो कलाकार पूव प्राप्त दाशनिक धारा को ही लचीली बनाकर उसम नवीन अथ भरते हुए उसे नए रूप

में किन्तु, पुराने नाम से ही विकसित कर लेता है, अथवा जीवन-जगत की व्याख्या करने वाली ऐसी नवीन विचार धारा को ग्रहण करता है जिससे उसके नव प्राप्त अंतस्तत्वों की व्याख्या प्राप्त हो सके।

संक्षेप में इस प्रकार हम देखते हैं कि दार्शनिक विचार धारा लेखक की एक निजी आवश्यकता होती है। वह दार्शनिक विचार धारा कितनी दार्शनिक है अथवा वह कितनी व्यवस्थाबद्ध है या कितनी सत्याधारित है यह एक भिन्न प्रश्न है। महत्त्व की बात (लेखक के लिए) इतनी ही है कि वह अंतःकरण स्थित जीवन-ज्ञान व्यवस्था को व्यापक दृष्टिकोण से व्याख्यात करती है।

लेखक कलाकृति में उस दार्शनिक भाव धारा को ज्यों का त्यों प्रकट नहीं करता वरन् वह उसे एक दृष्टि रूप में ग्रहण कर उसके अनुसार जीवन-व्याख्यात या जीवन आलोचन (जैसा और जितना कलाकृति में सम्भव है) उपस्थित करता है। उस दृष्टि द्वारा उसके हृदय में मूल्य भावना विकसित होती है और उस मूल्य भावना के अनुसार, वह किन्हीं विशेष अंतस्तत्त्वों को महत्त्व प्रदान कर शेष को अभिव्यक्ति क्षेत्र से बहिर्गत कर देता है, अथवा उन्हें उपेक्षित करता है।

कलाकृति में—कलाकार के कार्य में यह मूल्य भावना बहुत सक्रिय होती है। वह किन्हीं विशेष जीवन-तत्त्वों को अभिव्यक्ति महत्त्व प्रदान करती हुई उन्हें विशेष कोण से विशेष दृष्टि से ही स्थापित करती है। यह कोण यह दृष्टि क्या है—वह उस ज्ञानात्मक भावधारा का ही एक रूप है जिसे मैंने दार्शनिक विचारधारा कहा।

अतएव, कलाकार अपने औचित्य की स्थापना के लिए, आत्म विस्तार के लिए अपने को उच्चतर स्थिति में उद्बुद्ध करने के लिए अपना अंतःसंगम दार्शनिक भाव धाराओं से करता है। चूंकि वह कलाकार है इसलिए वह कला में जीवन चित्र ही प्रस्तुत करता है न कि जीवन की व्याख्या। किन्तु उसके पास ज्ञाना एवं वैचारिक दृष्टिकोण रहना ही है जो एक मूल्यांकन कारी और नियंत्रणशील शक्ति के रूप में उसकी कलाकृति के रूप-स्वरूप और तत्त्व रूप को नियमित करता है। अतएव यह कहना गलत है कि लेखक के पास जीवन जगत की व्याख्या अर्थात् विचार धारा का नितान्त अभाव है।

हाँ यह कहना सही हो सकता है कि अपनी एक विशेष अवस्था में वह एक सर्वांगीण जीवन-जगत्-व्याख्या—ऐसी व्याख्या जो उसकी सब दृष्टियों में उसे सन्तोष प्रदान कर सके उसने अभी प्राप्त नहीं की है अतएव उसने अमुक विचार धारा में अमुक तत्त्व लेकर भिन्न भाव धारा में कोई अन्य तत्त्व लेकर किसी दूसरी विचारधारा से लेकर कोई तीसरी बात लेकर अपने आपको परिपुष्ट करने का प्रयत्न किया है अथवा जीवन जगत् के वास्तविक क्षेत्र से किसी सामान्य ज्ञान से बहुत-सी बातें लेकर उसने अपने को सन्तुष्ट कर लिया है। सम्भवतः आज की

नई काव्य प्रवृत्ति के क्षेत्र में ऐसा ही कुछ है।

बात जो भी हो यह निश्चित है कि लेखक के व्यक्तित्व का एक पक्ष वैचारिक है और यह वैचारिक पक्ष—अपनी पूरी वैचारिकता भले ही कलाकृति में उपस्थित न करे वह स्वयं ओझल रहकर किन्तु एक शक्ति के रूप में उसके उस संवेदनात्मक-अनुभवात्मक पक्ष का, जो कि कलाकृति में उपस्थित होता है नियमन नियन्त्रण अवश्य ही करता है।

इन्हीं बातों को देखते हुए लेखक के इस वैचारिक पक्ष के महत्व को ध्यान में रखते हुए साहित्य के क्षेत्र में अनेक विचार धाराएँ उपस्थित की जाती या उपस्थित होती हैं—आध्यात्मिक समाजवादी तथा समाजवाद विरोधी तथा अन्य।

कलाकार का अन्तर्मन विचारों को आत्मानुभूत जीवन-सन्दर्भों में एकाकार करके ग्रहण करता है। अन्तर्मन में उपस्थित वास्तविक जीवन विचारों में प्रवाहित होता है। विचारों की यह प्रवहणशीलता लेखक की सारी संवेदनाओं में मिलकर उसके अन्तर्जीवन का अंश बन जाती है।

किन्तु जहाँ ये विचार कलाकार के अन्तःकरण में संवेदनात्मक रूप से उपस्थित जीवन-सन्दर्भों द्वारा ग्रहण नहीं किए जाते वहाँ वे बाहरी ही रह जाते हैं। ऐसे न मालूम कितने विचार हैं जो अपने-आप में सुसंगत और न्यायोचित रहते हैं। किन्तु कलाकार के लिए वे उसी ढंग से बाहरी हो जाते हैं जिस प्रकार बाजार घर के बाहर ही होता है।

ऐसी स्थिति में लेखक के द्वारा आत्मानुभूत न होने पाने वाले विचारों का आग्रह यदि उससे किया जाय अथवा लेखक यह समझे कि उन विचारों का उस पर लादा जा रहा है, तो मन ही मन अथवा प्रकट रूप से वह विक्षुब्ध होकर विद्रोह कर उठता है।

लेखक चूँकि किसी न किसी रूप से जीवन का चित्रण करता है, इसीलिए उसकी जीवनानुभूतियों को उसकी भावनाओं कल्पनाओं और जीवनानुभूति रंजित बुद्धि को उत्तेजित और प्रोत्साहित करने या कर सकने वाली शब्दावली और शैली में जब तक कोई समीक्षा या सिद्धान्तवाद या विचारधारा प्रस्तुत नहीं की जाती तब तक वह उसे प्रभावित या प्रोत्साहित अथवा प्रेरित नहीं कर सकती।

यह विशेषकर उस स्थिति में होता है जब लेखक उस विचार धारा या भाव धारा या सिद्धान्तवाद को अपने वायुमण्डल से नहीं खींच पाता, क्योंकि वह विचार धारा या भाव धारा या सिद्धान्तवाद उस वायुमण्डल में होता ही नहीं, न उस समय उसके होने की कोई संभावना ही दिखती है।

किन्तु जब किसी विशेष स्थिति-परिस्थिति में वही विचार धारा या भाव

धारा या सिद्धांतवाद स्वाभाविक हो उठता है। अर्थात् उस विशेष स्थिति परिस्थिति में जब उस ढंग के झुकाव या रुझान या उन्मुखताएँ स्वाभाविक रूप से उपस्थित होती हैं तब वैसी स्थिति परिस्थिति में कलाकार उस विचार धारा की उसकी बौद्धिक-सैद्धांतिक शब्दावली को अनायास ग्रहण कर लेता है अर्थात् वह विवेचनात्मक-सैद्धांतिक शब्दावली यदि उसके निकट नहीं तो दूर भी नहीं मालूम होती।

किन्तु ऐतिहासिक युगों में ऐसी भी विशेष स्थिति परिस्थितियाँ होती हैं जब समीक्षा या सिद्धांत विवेचना और सिद्धांतों का बौद्धिक प्रयोग एक विशेष स्तर पर चलता रहता है तथा कलाकार का जीवन चिंतन या जीवन-अनुभव और उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति किसी भिन्न स्तर पर चलती रहती है और ये दोनों स्तर एक दूसरे से समानांतर चलते रहते हैं और बावजूद उनकी टकराहट के कलाकार का जीवन चिंतन और कलात्मक अभिव्यक्ति समानांतर चलती रहती हैं। ऐसी भी एक परिस्थिति होती है।

इसका परिणाम यह होता है कि सिद्धांत विवेचन अर्थात् विचार धारा की मूल दृष्टि या तो स्वयं बदलकर कलाकार के समीप आ लगती है अथवा उस विवेचन की मूलधारा एक स्वतन्त्र विचार-सरणि बनकर बदलते हुए जीवन के मूल स्रोतों से विच्छिन्न करके अपने आपको जड़ीभूत अवस्था में परिणत कर लेती है। विचार धाराओं की जड़ीभूत स्थिति यही सूचित करती है कि जीवन द्वारा उपस्थित नये सत्यों तथ्यों तथा समस्याओं से उसने अपने-आपको अलग करके कूटस्थ ब्रह्म की स्वयंपूर्ण सम्पूर्ण इयत्ता स्थापित कर ली है।

इस प्रकार उस विचार धारा के क्षेत्र में जब सृजनशील और जीवन-जन्य उद्वेगों से परिपूर्ण चिंतन रुक जाता है तब वैसी स्थिति में उसमें उन्मत्त और उच्च गौरव गर्वपूर्ण अहंकार की भव्यता भले ही मालूम पड़े वह बावजूद उसमें स्थित महत्त्वपूर्ण सत्यों के जीवन विकास के लिए निरुपयोगी हो उठती है—अपनी जड़ता के कारण मर्यादाओं के कारण नहीं।

दूसरे शब्दों में समीक्षात्मक विवेचन तथा कलाकार के जीवन चिंतन की समानान्तरता तथा परस्पर-संवाद के अभाव की स्थिति जब स्पष्टतः दिखाई देने लगती है तब यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि उस विचार धारा के क्षेत्र में काम करने वाले लोग अपनी स्वयं की अक्षमताओं की बनी परछाई अपनी स्वयं की विचार धारा के क्षेत्र में तो नहीं डाल रहे हैं। दुर्भाग्य की बात यह है कि किसी भी विचार धारा के क्षेत्र में या साहित्य समीक्षात्मक विवेचन के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों में आत्मालोचन और आत्म-समीक्षा बहुत कम दिखाई देती है। अपनी अनजान असफलताओं का दोष अपनी प्रभाव-हीनता के अपराध का कुछ भी भाग अपने हिस्से में न लेकर उन्होंने सदैव कलाकार के मत्थे

गड़ा है।

कलाकार होने मात्र से कोई व्यक्ति, वहैसियत एक कलाकार के, कोई देवता मन या वांछनीय कलाकार नहीं हो जाता। अगर ऐसा होता तो औरंगजेब की प्रशस्ति में काव्य करने वाला कवि कालिदास बहैसियत एक कलाकार के, औरंगजेब से सम्बधित कविताओं में भी जीवन-सत्य की कलात्मक अभिव्यक्ति कर रहा था। उन कलाकृतियों में अर्थात् उन सवैया कविताओं में वह चाटुकार का काम कर रहा था। प्रसिद्ध कवि पद्माकर ने अपने सरक्षक हिम्मत बहादुर की बहादुरी का जो गान गाया है उससे यही प्रमाणित होता है कि कलाकार, केवल रचना-कर्म के कारण ही अपने आप में कोई देवता या सन्त या वांछनीय कलाकार नहीं हो जाता। पर कहाँ तक किस हद तक किस सीमा तक वांछनीय कलाकार है वह उसकी कलाकृति के अपने रूप-स्वरूप पर, उस कलाकृति की मूल प्रेरणा पर, उस कलाकार के व्यक्तित्व पर (जो उस कलाकृति में प्रकट हुआ है) तथा उस कलाकृति में जो जीवन-मर्म प्रकट किए गए हैं (यदि वे प्रकट किए गए हैं तो) इन सब पर और उनके प्रभावों के स्वरूप पर—इन सब परस्पर-सन्निविष्ट बातों पर एक साथ निर्भर करेगा। कलाकार होने मात्र से रचनाकार होने मात्र से, कोई व्यक्ति श्रेष्ठ वांछनीयता का अधिकारी नहीं होता।

समीक्षक के अह-बद्ध विचारों का तुपार जिस भाँति उसके उग्र अहंकार का ही द्योतक होता है उसी प्रकार कलाकार का अहंकार भी एक बड़ी अजीब चीज होती है। ऐसा अहंकारात्मक मनीषा जब प्रतिभा के नाम से खुलकर खेलती है तब साहित्य का 'कल्याण' हो जाता है। समीक्षा और कला की यह टकराहट असल में यह महामहिम व्यक्तियों या महत्त्वाकांक्षी किन्तु पदहीन महानुभावों के आपस की टकराहट है।

कला चाहे वह यथार्थवादी कला ही क्यों न हो, एक आत्मपरक प्रयास है। यह उसकी विशेषता है, बहुत बड़ी विशेषता। कला न केवल एक आत्मपरक प्रयास है वरन उसकी अपनी एक सापेक्ष स्वतन्त्रता है। वह व्यक्ति-सापेक्ष्य है जीवन-सापेक्ष्य है वर्ग-सापेक्ष्य है, युग-सापेक्ष्य है। वह स्वतन्त्र भी है। वह स्वतन्त्र इस अर्थ में है कि जो भाव-बीज कलाकार के अन्तःकरण में उदित होकर उसके सारे संवेदनों और अनुभवों द्वारा परिपोषित होकर विस्तार ग्रहण करके उसके अन्तरमन को आच्छादित करते हुए अपनी अभिव्यक्ति लक्ष्य की ओर विकास यात्रा करता है तो उस भाव बीज की विकास-यात्रा और उसकी अभिव्यक्ति अपने आप में विभिन्न और अनुकूल विपरीत तत्त्वों का एक गतिशील किन्तु संगठित और सामंजस्यबद्ध रूप बन जाती है।

उस भाव-बीज का (इस प्रकार की) गतिशील अभिव्यक्ति के दौरान में यह सामंजस्य-बद्धता का, तथा उसके भीतर के तत्त्वों के विभिन्न अन्तःसम्बन्धों में एक

गतिशील संगति की स्थापना का—यह जो शब्दात्मक भावात्मक प्रयास है—उसके अपने विशेष विशेष नियम हैं जो कलाकार द्वारा अपने अन्तःकरण में अपने अपने ढंग से अनुभूत तथा विकसित होते हैं।

यही कारण है कि दस्तावस्की की उपन्यास रचना का शिल्प और शैली तुर्गनेव की उपन्यास रचना के शिल्प और शैली से भिन्न है। यही कारण है कि उपन्यास रचना के किन्हीं सिद्धान्त ग्रंथों को पढ़कर, उनमें बताये नियमों का अनुसरण करते हुए उन नियमों पर चलने की पूरी पाबंदी बरतते हुए कलाकृति प्रस्तुत नहीं की जाती।

कला की स्वतन्त्रता का अर्थ है कला-तत्त्वों के अन्तःसंगठनशील गतिशील संगति का अर्थात् कला की स्वाभाविकता का निर्वाह। इस गतिशील संगति की स्थापना के कार्य में जो भी अन्दर या बाहर के व्यवधान उत्पन्न होते हैं वे कला-तत्त्व की (अभिव्यक्ति रूप धारण करने वाली) आत्म-विकसनशील गति में बाधा डालते हैं अतएव वे कला की स्वतन्त्रता की उपेक्षा करते हैं।

कला की स्वतन्त्रता और कलाकार की स्वतन्त्रता—ये दोनों समानार्थी अथवा समीपार्थी शब्द नहीं हैं। कला की स्वतन्त्रता जीवन-सापेक्ष्य है, व्यक्ति-सापेक्ष्य है। क्योंकि यदि कलाकार अन्तस्तत्त्वों की गतिमानता में उनके विशिष्ट अन्तःसम्बन्धों को अनुभूत करके उनमें संगति और सामंजस्य स्थापित नहीं करता—अर्थात् काव्य निर्वाह नहीं करता तो इसका अर्थ ही यह है कि अन्तस्तत्त्वों की गति जिस दिशा की ओर जाना चाहती है वहाँ से उसे मोड़कर (क्या मोड़कर? एस्थेटिक पैटर्न के मोह से ग्रस्त होने से अथवा अन्य आग्रह निजत्व उपदेशवादी सौन्दर्य आदि के सम्मोह से जड़ होकर) कोई भिन्न दिशा देना चाहता है तो ऐसी स्थिति में उसके अन्तःकरण में भावना-कल्पना-बुद्धि इन तीनों का जीवनानुभूति और उसको प्रकट करने का संवेदनात्मक उद्देश्य—इन दोनों का योग न होकर ये अलग अलग पड़ जाते हैं। इस प्रकार कलाकृति बाधा-ग्रस्त हो जाती है।

इस बात को हम यों कहेंगे कि लेखक के अन्तःकरण में संचित जो भाव-तत्त्व हैं जो जीवन-ज्ञान-व्यवस्था है और उस व्यवस्था के अन्तर्गत जो दृष्टि है उनसे परिचालित और परिपुष्ट जो संवेदनात्मक उद्देश्य हैं उनसे कलाभिव्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षा रखती है उन पर निर्भर करती है अपने रूप-तत्त्व के विकास के लिए। इस प्रकार कला की स्वतन्त्रता लेखक के अन्तर पर, लेखक के अन्तर में उपस्थित जीवन-तत्त्वों पर, कलाकार के अन्तर में उपस्थित भाव-दृष्टि तथा जीवन-ज्ञान-व्यवस्था पर निर्भर है और उसी से वह मर्यादित है।

दूसरे शब्दों में जब जब इस अन्तःस्थित भाव-दृष्टि तथा जीवन-ज्ञान-व्यवस्था से भिन्न पृथक् तथा बाह्य तत्त्वों के दबाव में आकर लेखक कलाकृति में जो

गुजरे हैं। बस उसके गैर कानूनी करार दिये जाने का यही रहस्य है।

दूसरे शब्दों में, लेखक और कलाकार की स्वतन्त्रता समाज सापेक्ष्य है, समाज स्थिति-सापेक्ष्य है। मानव गौरव और उच्च अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए भी जो रचनाएं जाती है उनमें ऐसे सत्यांश हो सकते हैं जो अप्रिय हों अतएव वे सत्ताधारी अथवा सम्पन्न या प्रभावशाली वर्गों की भावना को ठेस पहुँचा सकते है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए समाज में उन सत्यों के विरुद्ध ऐसी मनोग्रंथियाँ तयार कर दी जाती है कि जिससे अमुक अमुक लेखक को प्रकाशक न मिल सके।

जन मत और लोकाभिरुचि बनाने का ठेका जहां उच्च सम्पन्न वर्गों ने लिया है वहा किसी भी बात की परिभाषा जो उनकी दी हुई होती है खूब चलती है। और उस परिभाषा को विश्वविद्यालयों से लेकर छोटे मोटे प्रकाशकों तक इस तरह स्वीकृत करा लिया जाता है कि जिससे उसी के मापमान चल पडते हैं। संक्षेप में एक भाव प्रवाह विचार धारा सत्य और सत्यांश के विरुद्ध मनोग्रन्थियां स्थापित करा दी जाती है। कलाकार स्वयं या तो इस तरह की मनोग्रंथियों का स्वयं शिकार हो जाता है और अपनी आपकी जिन्दगी के एक हिस्से को अभिव्यक्ति के क्षेत्र से निकालकर फेंक देता है अथवा यदि वह बहुत ही आतुर है तो चुपचाप लिखता जाता है छपाता नहीं छिपाता है और बाह्य प्रोत्साहन के अभाव में बहुत बार वह रचनाएं अधूरी छोड़ देता है। पूरी नहीं करता इसलिए कि उसकी अभिव्यक्ति का भाव बिन्दु प्रकट हो गया होता है किन्तु उसका नागरिक सावयव अन्त सगठन उपस्थित करने की उसे आवश्यकता नहीं रह जाती।

विभिन्न समाजों में इस प्रकार की मनोग्रंथियाँ जो क्रमशः अथवा अचानक प्रचार द्वारा उत्पन्न की जाती हैं विकसित की जाती हैं वे अच्छी हैं या बुरी यह एक भिन्न प्रश्न है। साम्यवादी दृष्टि से एक खास ढंग से अलिखित सामाजिक सविधान अर्थात समाज-मान्यताएं और समाज अस्वीकृतियाँ उचित होंगी अमरीका में स्वतंत्रता की कसौटी घोषित की जायेगी भले ही फिर दुनिया को—एक अमरिकना को नीग्रो की होटलों और रेस्तराओं से अलग रखा जायगा। लेकिन साम्यवादी समाज रचना का उसके उद्घाटन या उसका निन्दनीय उद्घाटन की गरज से निग्रह साहित्य या उसमें प्रकट भाव-दृष्टि का लेखक और कलाकार की स्वतन्त्रता की कसौटी माना जाय। हाँ बातों कालीन की ओर ध्यान न दिलाओ।

कलाकार की स्वतन्त्रता समाज-सापेक्ष्य और समाज स्थिति-सापेक्ष्य है यह निर्विवाद है। सम्पूर्ण स्वतन्त्रता कहने भर की बात है। कलाकार को तो यह देखना है (यदि वह मानव धर्म और मानव-न्याय-बुद्धि की भावना रखता है तो —यद्यपि कलाकार एसा नहीं करते) कि वह सर्वोच्च मानव-मूल्यों की मानव

मुक्ति के लक्ष्य की स्थिति कहाँ पाता है, और कहाँ नहीं पाता अर्थात् किस प्रकार की भाव-दृष्टियों में वह अपनी अनुकूलता पाता है और किस प्रकार की भाव-दृष्टियों में नहीं। दूसरे शब्दों में, किस प्रकार के सोशल सैंक्शन्स उसके अनुकूल हैं और किस प्रकार के नहीं।

मूलभूत अन्तर्विरोधों से ग्रस्त समाजों में निःसन्देह लेखक वर्ग में भी कलाकार वर्ग में भी सोशल सैंक्शन्स अर्थात् सामाजिक निषेधों के प्रति भिन्न भिन्न दृष्टियाँ होती हैं, तथा न केवल वे दृष्टियाँ भिन्न भिन्न होती हैं वरन परस्पर-विरोधी भी हो सकती हैं।

ऐसी स्थिति में कोई एक भावदृष्टि अथवा कुछ भाव दृष्टियों का (समानता मूलक) समूह सामाजिक प्रभाव सम्पन्न तथा प्रतिष्ठा-सम्पन्न उच्च पदासीन वर्गों द्वारा मान्यता प्राप्त होकर शेष दृष्टि या दृष्टियाँ मलिन भाव की सूचक, निम्न भाव की सूचक, निम्न पदासीन तथा रिक्त और अर्थहीन करार दी जाती हैं।

इस प्रकार का यह दृष्टि-भेद या यों कहिये कि दृष्टि संघर्ष सदा-सर्वदा तथा अनिवार्यतः नये और पुराने का झगड़ा नहीं होता वरन वह वर्गों का संघर्ष होता है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वह नये और पुराने का भी संघर्ष हो सकता है। वह वैसा है या नहीं यह देखने-समझने की बात होती है।

एकाध उदाहरण अप्रासंगिक न होगा। छायावाद तथा द्विवेदीयुगीन काव्य प्रवृत्ति दोनों एक ही मध्य वर्ग से निःसृत हुए। अपने अपने ढंग से दोनों आदर्शवादी और मर्यादावादी थे। फिर भी भाषा, भाव, शैली तीनों क्षेत्रों की भिन्नता ने संघर्ष का रूप भी धारण कर लिया, यह किसी से छिपा नहीं। उसी प्रकार प्रयोगवादी या नई कविता का जन्म भी मध्यवर्ग में हुआ। छायावाद और इस आधुनिकतावादी प्रवृत्ति में संघर्ष रहा। यह नये-पुराने का झगड़ा है।

किन्तु मध्य वर्ग के क्षेत्र में प्रयोगवादी प्रवृत्ति का उदय विकास और प्रसार और फिर उसी मध्यवर्गीय क्षेत्र में उसी प्रगतिवादी प्रवृत्ति की क्षीणता और दुर्बलता का ऐतिहासिक सत्य यही तो प्रकट करता है कि इस मध्यवर्गीय क्षेत्र को एक ओर वैभव-सम्पन्न उच्चवर्गीय प्रवृत्ति हथियाना चाहती है तो दूसरी ओर समाजवादी आदर्श का समर्थन करने वाली शक्ति—सर्वहारा शक्ति उसे अपने प्रभाव में लाना चाहती है।

मध्यवर्गीय क्षेत्र में इन दोनों के प्रचार प्रसार का खूब क्षेत्र भी है। उच्च मध्यवर्गीय अभिजात्य मानवतावादी आध्यात्मिकता व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादी प्रणाली के नाम पर साहित्य क्षेत्र से समाजवादी प्रभाव का उन्मूलन करना चाहती है। उसका मूल सामाजिक आधार है—उच्चमध्यवर्गीय लोग और उनकी सौन्दर्याभिरुचिपूर्ण जगमगाहट से मोहमुग्ध। वे निम्नमध्यवर्गीय लेखक जो

लोभ ग्रस्त और पिपासु होकर उनके आसपास मँडराते हैं या व्यक्तिगत आधार पर उनसे घृणा करते हुए भी उनके पद-चिह्नों पर चलने में अपनी कलात्मक प्रवृत्ति की सार्थकता समझते हैं।

इसके विपरीत इसी मध्यवर्ग में भिन्न भिन्न स्थानों पर ऐसे लोग भी हैं जो न अत्यन्त दरिद्र निम्न मध्यवर्गीय लोग हैं, न ऐसे जिन्हें हम आर्थिक दृष्टि से किसी भी हालत में सुखी कह सकते हैं। यह श्रेणी साहित्य तथा कला के क्षेत्र में काम भी करती है तथा वह काम भिन्न है यह कहा जा सकता है। इसकी मनोवृत्ति में प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के प्रति समीपता सम्भवतः पाई जा सकती है। और वह बहुत कुछ अंशों में अभी भी देखी जा सकती है। प्रगतिवादी जीवन मूल्य भी इनमें देखे जा सकते हैं। यह है सामाजिक आधार—उस सर्वहारा आन्दोलन के मध्यवर्ग के ऊपर प्रभाव का।

इसके बावजूद प्रगतिवादी आन्दोलन बहुत-कुछ पीछे हटा है तो इसका कारण यह नहीं है कि मध्यवर्ग पूरा का पूरा अवसरवादी हो गया है यद्यपि उच्चमध्यवर्गीय प्रभुता तथा बल सम्पन्न पूँजी की सत्ताधारिता ने भी इसमें अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दिया है। किन्तु इसका एक कारण यह भी है कि प्रगतिवादी प्रवक्ताओं ने अपनी वही पुरानी छर्रे वाली बन्दूक और वही पुराने तमंचे निकाले जिनकी आज कोई कीमत नहीं। संक्षेप में उनके पास प्रगतिवादी प्रवक्ताओं के पास मध्यवर्गीय अर्धसिद्धान्तवादी अहंकार तो था किन्तु कला की सृजनशील प्रक्रिया में कला-सम्बन्धी समस्याओं में वह सूक्ष्म गति नहीं थी जो कि एक जीवन समझ और कला समझ के लिए आवश्यक होती है। ये नहीं सदस्यों से बिछुड़कर नये लेखकों से तनकर अलग रहते थे। सिद्धान्तों के आयवरी टावर में रहकर (अपनी ठाठदार रोजी रोटी का सवाल वे पहले ही हल कर चुके थे) वहाँ के बुर्जों से वे लेखकों के नयेपन पर और नये लेखकों के यूथ पर अपने तीर चलाने का प्रयोग करते थे, गुब्बार होकर। निःसन्देह उनमें से कुछ ने नयी प्रवृत्ति के साथ चलने का प्रयत्न किया भी तो लंगड़ाते हुए। सच तो यह है कि वे घिसे पिटे थे और अपने घिसे पिटेपन को सिद्धान्तवादिता का जामा पहनाकर सर्वमान्य होने का प्रयत्न करते थे।

यहाँ उनकी आलोचना करने का मेरा अभिप्राय नहीं है। मैं तो यह कह रहा हूँ कि प्रगतिवादी धारा का जो पीछे हटना हुआ उसमें प्रगतिवादी के प्रवक्ताओं की निर्मम अक्षमता और तन्त्र-बधिर अन्ध-पंगु प्रतिभा का भी विशेष योग था।

किन्तु मार्क्सवादी क्षेत्र में शीत युद्ध अब भी चल रहा है। साहित्य-क्षेत्र में मध्यवर्ग ही क्रियावान है और सम्भवतः आगामी दसियों वर्षों तक वह क्रियाशील रहेगा। मध्यवर्ग के ही लेखक आज भी हैं। जीवन की समस्याएँ अनिवार्य

होती जा रही हैं। ये समस्याएँ भिन्न भिन्न प्रकार की हैं। समाज में आज दिन तक उत्पीडन और शोषण की मात्रा, अनाचार और अत्याचार की मात्रा और भी अधिक, और भी तीव्र हो रही है। अवसरवाद, भ्रष्टाचार नैतिकता का ह्रास मानवतावादी मूल्यों की अवनति और व्यक्तिबद्ध अहंवादी मूल्यों का बढ़ता हुआ प्रभाव लूट खसोट आदि आदि बातों से सामान्य मानव का दुःख अपरिसीम होता जा रहा है।

ऐसी स्थिति में, शीत-युद्ध के एक केन्द्र को यह चिन्ता सता रही है कि कहीं यह संतप्त मानव समाजवाद और साम्यवाद का शिकार न हो जाय। ऐसी स्थिति में, वह पाता है कि पश्चिमी जगत का उच्च साहित्य साम्यवादी या समाजवादी प्रभाव को रोकने में विशेष सहायक नहीं होता। हाँ, यह सही है कि समाज की जो आलोचना उसमें की गई है वह कोई साम्यवादी दृष्टि या समाजवादी दृष्टि से नहीं, यहाँ तक कि कभी कभी उस दृष्टि की आलोचना समाजवादी भी करते हैं। किन्तु फिर भी वह आलोचना तो हुई है। ऐसी स्थिति में वे अमरीकी प्रयोगवादियों और श्रेष्ठ उपन्यासकारों का अथवा ब्रिटेन या फ्रांस के उच्च साहित्य का प्रचार नहीं करते क्योंकि आज के सन्दर्भ में उनके लिए वे उपयोगी सिद्ध नहीं होते।

आज तो उन्हें पाश्चात्य जगत की अराजकतापूर्ण स्थिति का तथा उससे उत्पन्न मानव दुःख का इस प्रकार परिभाषित करना है कि जिससे मनुष्य संकल्प धर्मा बनकर महान् कार्यों के लिए मुक्ति कार्यों के लिए उद्युक्त न हो।

उदाहरणार्थ वीरता की व्याख्या लीजिए। वीरता क्या है? अपने लघुत्व को ढाँकने का एक तरीका है। फिर, लोग उस ओर उन्मुख क्या होते हैं? इसलिए कि वे अपने लघुत्व की वास्तविकता से घृणा करते हैं। निष्कर्ष—(अ) मानव निरंतर लघु है। (ब) इसलिए उसका दुःख स्थायी है। (क) वह दुःख से मुक्ति के प्रयत्न में वीरता बताता है, किन्तु यह वीरता वस्तुतः उसके लघुत्व ही का मानसिक विक्षेप है। (ख) यह मानसिक विक्षेप उसमें क्या होता है? इसलिए कि उसमें बहुत बार आत्मघृणा और आत्मदया होती है अतएव अपने लघुत्व से घृणा करते हुए वह अपनी ऊँचाइयाँ प्रदर्शित करने के लिए वीरता के दृश्य प्रस्तुत करता है। (ग) वीरता के दृश्य प्रस्तुत करने से वह महान् नहीं हो जाता क्योंकि वह निरन्तर लघु है। (घ) इसलिए उसका दुःख स्थायी। [(ङ) अतएव मानव-मुक्ति के प्रयत्न व्यर्थ हैं, क्योंकि मुक्ति जैसी कोई चीज नहीं है—एक दुःख से दूसरे दुःख की ओर जाने का यह प्रयत्न है।]

यह मानवतावादी अद्यतन दर्शन है। मानव के सम्बन्ध में यह एक प्रकार का नकारवाद है। मानवीय भाग्य और वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में यह एक प्रकार का निराशावाद है।

न्द्र बनाई जा रही हैं।

ध्यान म रखने की बात है कि सभ्यता समाज, व्यक्ति—इन सबकी (इनकी दृष्टि स देखी गई) वतमान स्थिति की आलोचना क तत्त्व इन कवियो म खूब प्रचलित हैं, किन्तु ये आलोचना के तत्त्व अत्यन्त व्यक्तिवादी दृष्टि की उपज हैं।

इस आलोचना का साराश यह है कि रूस हो या अमरीका—यहाँ सधन औद्योगिक सभ्यता है। औद्योगिक सभ्यता व्यक्तित्व का नाश करती है। व्यक्ति म आत्म निणय, विवेक निणय शक्ति का ह्रास हो जाता है। उसका व्यक्तित्व भी विखडित हो जाता है। साम्यवादी जगत और स्वतन्त्र' जगत् इन दोनो म अन्तर केवल यह है कि 'स्वतन्त्र' जगत् म व्यक्ति, बावजूद व्यक्तित्व विभाजन क, बाव जूद व्यक्तित्व-नाश के वह अपन स्वतन्त्र निणय के लिए स्वतन्त्र है।

व्यक्ति अपना स्वतन्त्र निणय तब तक नहीं कर सकता, जब तक वह भीड का अग है। समाज म जब तक व्यक्ति पृथक-पृथक हैं और मान के जगत् म रहकर निणय करने को स्वतन्त्र है तब तक ही वह व्यक्ति है। तब तक वह आत्मा का केन्द्र है। किन्तु ज्योही वह एकत्र हो जाता है वह जन-यूथ के मनोविज्ञान की धारा म बहता है। स्वतन्त्र निणय की उसकी शक्ति या तो क्षीण हो जाती है या लुप्त हो जाती है। इसलिये ये जो मन्त्रो पर जुलूस चल रहे हैं, ये जो हडतालें हो रही हैं ये जो सामूहिक राजनतिक आक्रमण प्रत्याक्रमण हो रहे हैं ये सब भीड की मनोवृत्ति क परिचायक होन म, स्वतन्त्र निणय के अभाव की अन्ध शक्ति का ही सूचित करते हैं। परिणामत लेखक—जो कि अकेले म ही रहता है—उसे अकेले म रहना ही अच्छा है। तभी वह मानवता क उच्च गुणो को (यदि य हैं तो) प्रतिष्ठापित कर सकता है। जनवाद समाजवाद—भीड की मनोवृत्ति क परि चायक हैं। जुलूस, हडताल आदि राजनतिक-सामूहिक काय गलत है। जनता ढोर है वह पशु है क्योंकि वह नताओं के बहकाव म आती है क्योंकि उसम स्वतन्त्र निणय करने की शक्ति नहीं है।

व्यक्ति अपनी व्यक्ति-सत्ता म अद्वितीय है नि सग है। और ऐसी बाह्य प्रभावहीन नि सग स्थिति म ही अपन इस प्रकार के एकान्त म ही वह स्वतन्त्र निणय कर सकता है अन्यथा नहीं।

दु ख की स्थिति प्राय स्थायी है। मनुष्य लघु है। लघुत्व स पूण मनुष्य अपने लघुत्व स घणा करता है इसलिए कुछ काल क लिए वह वीर बन जाता है। वीरता या महानता भ्रमात्मक है। लघुता मनुष्य की मूल प्रकृति है। अत एव, हे महोदय महानता और वीरता क चक्कर म मत पडिये।

दूसरे शब्दो म यह जो विद्यमान स्वाथग्रस्त अहग्रस्त व्यक्ति सत्तात्मक स्थिति है—जिसमें कि यह समाज बना हुआ है—उसका पहचानना और उस यथाथ को पहचानकर अपनी अद्वितीयता की रक्षा करना आवश्यक है।

अद्वितीयता की यह रक्षा उन दार्शनिक या कहिए धार्मिक अथवा अध्यात्मिक या रहस्यात्मक अनुभवो म हो सकती है जिनकी परिभाषा करना, जिनक स्वरूप की व्याख्या करना उनका काम है, जिनको इसम दिलचस्पी है।

और इस प्रकार की अंतिम व्याख्या और अंतिम परिभाषा—वह जो भी है—यदि व्यक्ति सत्ता की एकमव अद्वितीयता का रक्षा करती है तो उस स्थिति म वह मानव की सर्वोच्च परिभाषा उसकी निजी शक्तियो का आत्म शक्तियों की सर्वोच्च परिभाषा भी होगी।

मैंने इस भावधारा की कतिपय विशेषताओ को अपन शब्दो म रखन का प्रयत्न किया है न कि भावधारा वालो क शब्दो म। अतएव इसम उनक विचारो को सभवत भद्दा बनाकर भी रखा गया है। किन्तु भल ही मैंने उसे हलक ढग से या भद्दे ढग स रखा हो उसका सार-सत्य वही है जो मैंने कहा।

उपर्युक्त भावधारा सम्पूर्ण सर्वांगपूर्ण अथवा व्यवस्था बद्ध या सुसगठित रूप से सब कवियो म नही पायी जाती है। किसी म उसका कोई अश है तो किसी म कोई और। इन कवियो का आभ्यान्तर जीवन ज्ञान व्यवस्था म इस भावधारा का योग है वह कितना और कसा योग है यह एक भिन्न प्रश्न है।

यह भी ध्यान म रखने की बात है कि सब प्रयोगवादियो या नय कवियो की यह विशेषता नहीं है। सभी म यह भावधारा पायी जाती है—यह कहना यथार्थ के अनुसार नही।

महत्त्व की बात केवल यही है कि यह भावधारा नितान्त प्रतिक्रियावादी है। इसक सार आधान का मुख्य लक्ष्य कवि-कलाकार को लेखक समाज से सामाजिक मानवीय भावनाओं स, सामाजिक मानवीय लक्ष्यो स, सामाजिक-मानवीय सत्ता क उच्चतर रूपान्तर क स्वप्न लक्ष्य और प्रयत्न स पृथक निसग और विरोधात्मक रूप म स्थापित करना है।

इस नेख का मुख्य उद्देश्य इस भाव धारा के मुद्देवार खण्डन उपस्थित करना नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य वतमान स्थिति पर अपनी बुद्धि अनुसार प्रकाश डालते हुए यह बताना है कि आखिर किस प्रकार इस भावधारा स छुटकारा प्राप्त हो सकता है।

यह जानना जरूरी है कि आखिर इस क्षेत्र म इस भावधारा का प्रचार क्या कर हुआ। बाह्य परिस्थिति कमी थी यह कहकर छुट्टी लेना गलत है। आन्तरिक अवस्था का भी इस भावधारा के प्रचार प्रसार म योग है। यह आन्तरिक अवस्था साहित्य-क्षेत्र की आन्तरिक अवस्था तथा अन्त करण के भीतर की अवस्था भी है।

काव्य एक आत्मपरक प्रयास है। भारतीय साहित्य—विशेषकर हिन्दी साहित्य म आत्मपरक काव्य की परम्परा रही आयी। उसी प्रकार साहित्य के

तत्वा क विश्लेषण और उसके प्रभाव के विश्लेषण की भी परम्परा रही है।

प्रगतिवादी समीक्षा और प्रगतिवादी साहित्य ने मनुष्य के मात्र सामाजिक राजनतिक पक्ष पर ही खूब जोर दिया। उसके शेष पक्षो पर तुलनात्मक दृष्टि स, बहुत कम बल रहा या नही रहा। परिणामत पाठक के सामने मनुष्य का जो चित्र प्रस्तुत हुआ वह एकपक्षीय ही था, उसमे मानव-सत्ता का सर्वांगीण प्रगति शील दृष्टि का प्रकटीकरण नही था।

इसका प्रभाव प्रगतिशील साहित्यकारो के व्यक्तित्व पर भी हुआ। एक ओर वे अनेकानेक रचनाओ मे केवल उद्बुद्ध सामाजिक क्रान्तिकारी भाव-दृष्टि प्रकट करते थे। तो दूसरी ओर उनके वास्तविक जीवन म जो दृश्य बहुत बहुत लोगो को जि होन उ ह समीपता से देखा है वह उच्चवर्गीय सकीणता विलास लोलुपता, अपने पास अधिकाधिक उच्चवर्गीय सामाजिक प्रभाव तथा अधिकाधिक वस्तु सग्रह और कीर्ति-सग्रह की लालसा प्रत्यक्ष दिखाई दे रही थी। इस मनोवत्ति के उदाहरण अधिकतर दिखाई दे रह थे। अपवाद कुछ थे वे अत्यत अल्प थे। सक्षेप म इन लखको के वास्तविक जीवन म प्रगतिशील दृष्टि का अनुशासन नही और उस प्रगतिशील दृष्टि से जीवन सगठन नही था। उच्च और सुखपूर्ण वयक्तिक जीवन ही उनका प्रधान जीवन लक्ष्य था।

वसे ही उनके सामाजिक सम्बन्ध भी थे। उन सामाजिक सम्बन्धो के कारण और उनके द्वारा ही वे भौतिक उन्नति के सोपानो पर चलते जा रहे थे। यदि समाजवाद के द्वारा उनका निजी प्रभाव बढ़ता है तो वह भी अच्छा ही है—यह मानकर मानो कि वे चलते थ। उच्च वर्गो म उनके गहन सामाजिक सम्बन्धो ही के कारण, उ ह अपन प्रगतिवाद से कोई आर्थिक या सामाजिक हानि नही हुई।

परिणामत उनके वास्तविक जीवन और आचरण के द्वारा कोई विशेष प्रेरणा नहा मिल पाती थी। अपने भौतिक अस्तित्व की रक्षा का सघष, जो एक साधारण मनुष्य को—एक गरीब आदमी को करना पडता है वह उनके लिए माना कि नही था और अगर था भी तो वह एक ऐसे ढग से था जिसे हम मोटर कार वालो पर लदे हुए कर्ज से छुटकारे का सघष कह सकते है। दूसरे शब्दो मे, यद्यपि ये लोग मानव, मानवता, सघषशील मानवता मुक्ति सघष, जनवाद, किसान-मजदूर क्रान्ति आदि शब्दो का प्रयोग करते थ और विभोर होकर भक्ति भावपूवक उन सब तत्वा का प्रतिपादन भी करते थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि जसा कि दिखाई देना था उनकी विभिन्न कल्पनाएँ अतिसरलीकरण पर आधारित हो गई थी। जिंदगी की पेचीदगियो पर उनका ध्यान न जाकर, सामान्य विशेषताओ पर ही दृष्टि टिक जाती थी। इसलिए उनका प्रगतिशील मानव एक निष्ठावान् क्रान्तिकारी मानव था जो प्रगतिशील मूल्यो की स्थापना के लिए जूझ पडता है। उसके हृदय म कही भी कोई

सका, अपने व्यक्तिगत सुख के सम्बन्ध में कोई चिन्ता अथवा अपनी परिस्थितियों में कोई घबराहट नहीं थी—यद्यपि यह साफ था कि वास्तविकता बराबर यह सूचित करती रहती थी कि वास्तविक प्रगतिशील मनुष्य जो कि हमें काम करते हुए दिखाई देता है प्रगतिवादी कविता में, दिखाई दे रहे प्रगतिशील मानव से कहीं अधिक दुर्भाव भरा, कमजोर और विविधपक्षीय सुभाव रखने वाला मनुष्य है। संक्षेप में प्रगतिवादी मानव बिम्ब जो काव्य में उपस्थित हुआ, प्रगतिवादी मानव के वास्तविक जीवन-संघर्ष और वास्तविक व्यक्तित्व से बहुत कुछ दूर होकर अतिसरलीकरण पर आधारित कल्पना के रूप में था। साथ ही उसका केवल एक ही पक्ष—सामाजिक राजनैतिक पक्ष ही सामने आता था, दूसरे पक्ष नहीं।

परिणामतः प्रगतिवादी काव्य एक हद तक, एक सीमा तक ही प्रभावित करता था। सारे जीवन को, मन वचन-कर्म को—जीवनयापन पद्धति को—हृदय, आत्मा और बुद्धि को एक केन्द्र से अनुशासन और नियंत्रण करने वाले प्रगतिवादी आदर्श और प्रगतिवादी जीवन मूल्य और उनके कार्यान्वित तथा अनुभवात्मक रूपों का चित्रण हमें नहीं दिखाई देता था, न आन्तरिक तथा बाह्य समस्याओं का चित्रण जो कि इस प्रकार के आत्मक्षय (?) से स्वभावतः उत्पन्न होता है।

इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। प्रगतिवाद के कतिपय प्रवक्ता अपने प्रवचनों को विशुद्ध मार्क्सवाद और उसका विशुद्ध प्रयोग समझते हुए और इस महान् कार्य से प्रसूत अहंकार के प्रतिनिधि बनकर जिस प्रकार आलोचना करते जाते थे उससे—देश में वामपंथी समाजवादी राष्ट्रवाद के बढ़ते हुए प्रभाव की धारा की उच्च लहरों पर चढ़कर वे नित्य-नूतन विजय प्राप्त करते जाते थे। वह युग ही वैसा था।

महत्व की बात यह है कि प्रयोगवादी और नई कविता का आरम्भ ही से विरोध किया। वे उसकी सूरत देखकर ही बिचकते थे। किसी विशेष साहित्य धारा की उत्पत्ति, विकास के मूल भूत कारणों का तटस्थ विश्लेषण न कर उसका विस्तृत स्वरूप विश्लेषण और उस पर आधारित मूल्यांकन न कर के वे केवल उसको नष्ट भ्रष्ट कर डालने के लिए ही कटिबद्ध रहे।

खैर, यह पुरानी बात हो गई। दुःख की बात यह है कि आज भी उनके द्वारा केवल विरोध के लिए विरोध के और कुछ नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में जब नए प्रकार के लेखकों से उन्होंने अपने को अलग कर डाला वे कैसे प्रतिक्रियावादी विचार धाराओं से मोर्चा ले सकते थे, उन्हें बचा सकते थे।

आज आवश्यकता इस बात की है कि नए काव्य-क्षेत्र में एक विशेष केन्द्र से, प्रतिक्रियावादी जन विरोधी विचार धारा का परिचालन किया जाता है, उसको रोका जाए। किन्तु यह कौन कर सकता है? क्या वह नए काव्य के स्वरूप ही से

भड़कने वाले लोगों से ही सिद्ध होगा ?

मेरे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि समीक्षा की भाषा, समीक्षा शैली, समीक्षा के अंतर्गत विचारधारा की अभिव्यक्ति इस प्रकार से हो कि लेखक यह समझ सके कि समीक्षक उसका शत्रु नहीं, उसका मित्र है उसका भाई है। तभी वह लेखक का विश्वास प्राप्त कर सकेगा।

लेखक लम्बी चौड़ी सिद्धांतवादी शब्दावली से न प्रभावित होता है, न उस जान ही पाता है। अतएव, यह आवश्यक है कि इस ढंग से बात की जाए कि जिससे समीक्षक और लेखक की दूरी कम हो—वे दो विभिन्न पृथक लोकों में न रहकर एक ही जगत में रहकर एक ही भाषा बोलते-से प्रतीत हों।

महत्त्व की दूसरी बात यह है कि साहित्य क्षेत्र में जिन केन्द्रों से जो प्रतिक्रियावादी विचारधारा प्रचारित और प्रतिचालित होती है, उन केन्द्रों और उनकी प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं की मूलगामी और प्रखर आलोचना करते हुए इस प्रकार आलोचना करते हुए कि जिससे प्रगतिशील मानवतावाद का मार्मिक और सर्वांगपूर्ण तथा प्रेरणापूर्ण चित्र उपस्थित हो सके, अनेक व्यापक विवेचन और मंथन करने वाली पुस्तक लिखी जाए, लेख लिखे जाएं, तथा उस चुनौती को सहर्ष स्वीकार किया जाय जो भारतीय मानवता को विचारधारा के रूप में विशेष केन्द्र या केन्द्रों से दी गई है।

दूसरे शब्दों में समीक्षा एक ऐसा सिद्धांत-जगत, जीवन ज्ञानपूर्ण जीवन संवेदन पूर्ण मार्मिक मानव चित्र प्रस्तुत करे—ऐसा मानव चित्र, जो आज की व्यापक दुःख और कष्ट की स्थिति-परिस्थिति से ग्रस्त लेखक की विभिन्न वास्तविक मनोदशाओं के लिए न केवल ग्राह्य हो वरन् उसके विभिन्न पूर्वाग्रह ग्रस्त भावों को छिन्न भिन्न करते हुए उसे प्रेरणा प्रदान करे—ऐसी प्रेरणा जो एक हो उसकी समस्याओं—विश्व की समस्याओं के समाधान का एक नम्र किंतु अत्यन्त भाव-संयत्नशील प्रयत्न हो।

सिद्धान्त जीवन जगत के विभिन्न सामान्यीकरणों ही पर तो आधारित होते हैं। ये मानव के अंतःकरण में स्थित जीवन ज्ञान-व्यवस्था का ही तो एक उच्च विकास रूप हैं। अतएव, मेरा यह आग्रह है कि समीक्षा आज के लेखक के परिवेश उसकी रचना प्रक्रिया, उसके अंतःकरण के संवेदन-पुंजों को समझाते हुए उसकी विशेष संदर्भयुक्त भाषा को समझाते हुए, और यह मानते हुए कि लेखक मानव-जीवन ही की अभिव्यक्ति कर रहा है, संक्षेप में लेखक के अंतःकरण और काव्य में सहानुभूतिशील अंतर्दृष्टि को परिचालित करते हुए कार्य किया जाए—विरोधी विचारधारा के क्षेत्र में तथा स्वरूप विश्लेषण करने वाली वास्तविक साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में। क्या ऐसी अपेक्षा करना गलत है ?

छायावाद और नयी कविता—१

कोई भी नया साहित्यिक आन्दोलन उन विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में पैदा होता है जिनमें हम सामाजिक विकास की एक महत्वपूर्ण भूमिका पा सकते हैं। याद कीजिए वह ज़माना जब गांधीवादी राजनीति को सशंक दृष्टि से देखा जा रहा था और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनी थी। वामपक्षी विचारधारा हिन्दी के ज़रिए हिन्दी साहित्य क्षेत्र में फैल रही थी और साहित्यिक मूल्यों के पुनर्निर्धारण के प्रश्न कुछ साहित्यिकों के मन में घुमड़ रहे थे। इन वामपक्षी विचार आघातों ने दो प्रकार के लेखक पैदा किए—एक तो वे जो सीधे-सीधे राजनैतिक विचार प्रवाह के साहित्यिक रूपान्तर में और वे भी जिन्होंने छायावादी साहित्यिक आदर्शों और मनोभावनाओं के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रियाएं की थीं। वे दूसरे प्रकार के लेखक सन् १९३६ में ही छायावादी आदर्शवादी भूमि को यथार्थ दृष्टि से त्याग रहे थे। उनका सबसे महत्वपूर्ण विरोध सिर्फ एक बात को लेकर था। और वह यह कि छायावाद ने भाव भूमि को संकुचित कर लिया है। सौन्दर्य, दुःख, कष्ट, लक्ष्य, आदर्श, बाधा, क्षोभ का चित्रण जो छायावाद में हुआ वह वास्तविक मनोभावों का नहीं वरन् कल्पित दुःख, कष्ट, बोध, क्षोभ आदि का है। छायावादी मनोभाव वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करते। यह जीवन जो जिया जाता है उसकी करुणा वास्तविक करुणा नहीं। छायावादी मनोभावों में रंगीनी इसीलिए है कि उसमें ज़िन्दगी, जैसी कि वह जी जाती है की असलियत लापता है। यही है वह मूल प्रतिक्रिया जो नई कविता ने उन दिनों छायावाद के विरुद्ध की थी।

किन्तु इस प्रतिक्रिया की पार्श्वभूमि सामाजिक न थी। आग्रह इस बात का था कि अगर छायावाद में वर्णित करुणा व्यक्ति की वास्तविक करुणा नहीं ज़िन्दगी के भीतर करुणास्पद परिस्थितियों से उत्पन्न मनोभावों का चित्रण नहीं, वह कुछ और ही है जिसमें करुणा का विलास है उसकी तकलीफ नहीं। लेकिन नई कविता का कवि इस तकलीफ को आत्मकेन्द्री अर्थों में ही देख रहा था। वह इस करुणा की सामाजिक व्याख्या न कर पाता था। अतएव नई कविता का जन्म

छायावादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की ही बगावत थी। यह बगावत इसीलिए सभव थी कि देश की बिगडी हुई दशा मे मध्यम वग के साधारण व्यक्ति का जीवन असह्य हो उठा था। ऐसा व्यक्ति यह सोचता था कि तत्कालीन रोमैंटिक कविता कम से कम उसके कष्ट ग्रस्त जीवन के मनोभावों के यथार्थ को तो उभारे।

नई कविता की दूसरी बद्धमूल धारणा यह थी कि छायावाद जीवन के प्रश्नो को भावुकता प्रधान कल्पना मूलक आदर्शवादी दृष्टि से देखता है। उसकी यह दृष्टि जीवन के यथार्थ के बिल्कुल विपरीत है—जैसे स्त्री-पुरुष सम्बन्धो का आदर्शीकरण, नारी का आदर्शीकरण, किसान मजदूर जीवन का रोमैंटिक वायवीय चित्रण (जैसे पन्त-'ग्राम्या' मे) दुख और करुणा का आदर्शीकरण—गोया हर चीज का कल्पना प्रवण आदर्शीकरण और उदात्तीकरण। निश्चय ही, छायावाद की फिलासफी और काव्य पद्धति ही गडबड है। इस प्रतिक्रिया का फल यह हुआ कि नई कविता जीवन की समस्याओ को बौद्धिक दृष्टि से देखने और मिटाने के लिए छटपटाने लगी और उसकी चित्रण-पद्धति बौद्धिक हो उठी। यह बौद्धिकता उसके दृष्टिकोण तक ही सीमित न रही वरन काव्य रचना का एक प्रमुख सर्जनात्मक तत्त्व बनकर सामने आई। और साथ ही उसकी शैली को भी प्रभावित किया।

चूंकि नई कविता कल्पना प्रवण भावुकतापूर्ण वायवीय आदर्शवादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थवादी व्यक्तिवाद की बगावत थी, इसलिए उसमे (१) बौद्धिकता के कारण यथार्थवादी आत्म चेतना और (२) व्यक्तिवाद का आत्म केन्द्री स्वरूप अर्थात वास्तविक सुख दुख की सामाजिक पार्श्वभूमि और ऐतिहासिक शक्तियो के प्रति सघन रागात्मक सम्बन्ध की क्षीणता पाई जाती है। ध्यान रहे कि इन्हीं दो मूलभूत बातो से शेष सब बातें या विशेषताएँ प्रादुर्भूत होती है। चूंकि नई कविता की यथार्थोन्मुख बौद्धिकता व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण प्रश्नो का उत्तर नहीं दे सकती थी इसीलिए धीरे धीरे उसमे साम्यवाद आना निश्चित ही था। तारसप्तक के प्रकाशन (सन १९४३) तक उसके चार कवि प्रगतिवादी और दो कवि प्रगतिवाद से प्रभावित हुए। केवल एक श्री अज्ञेय प्रगतिवादी न हो सके। यहाँ यह बात ध्यान मे रखने की है कि काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनने के अनन्तर सन '४२ तक वामपक्षी विचार धाराएँ युवको मे फैल चुकी थी। यह भी ध्यान देने की बात है कि साधारण रूप से तारसप्तक मे सगृहीत कविताएँ सन् '४२ के उत्तरार्ध के पूर्व की ही कविताएँ है। इसलिए उन कविताओ मे पूंजीवाद के विरुद्ध क्षोभ के बावजूद व्यक्ति चेतना का ही प्राधान्य है।

दूसरा सप्तक निकलते तक परिस्थिति बदल चुकी थी। नई कविता का टकनीक प्रचार पा चुका था। जिन व्यक्तिगत और सामाजिक राजनतिक स्थिति

परिस्थितियों में पहले तारसप्तक वालों को जूझना पड़ा, वे परिस्थितियाँ दूसरे सप्तक वालों के पास न थीं। जिन प्रश्नों को पहले तारसप्तक में उठाया उनका विकास भी दूसरे सप्तक में न हो पाया। पहले तारसप्तक के कवियों में वर्तमान दुःस्थिति के भाव से ग्रस्त रहने की मनोदशा के कारण उत्पन्न नकारवादी नगण्य मूलक चिन्तन, राजनैतिक विरोध, सामाजिक व्यंग्य, व्यक्ति के भीतर के वास्तविक अन्तर्विरोध (जिनके स्पष्टीकरण का बहुत बड़ा सामाजिक महत्त्व है), व्यक्ति चेतना का आभ्यन्तर विकेन्द्रीकरण (जो समाज में स्पष्ट लक्षित होता है), सामाजिक शान्ति के प्रति निष्ठा, मनुष्य की उन्नयनशीलता के प्रति विश्वास और आस्था दृष्टिगोचर होती है। दूसरे सप्तक में न इतना सामाजिक व्यंग्य है और न राजनैतिक विरोध और न इतनी निविड़ आत्मचेतना। इसके विपरीत उसमें मनोहर प्राकृतिक दृश्यांकन, निसर्ग सौन्दर्य का अनेक रूपकों में चित्रण, वातावरण के सुघर रंगीन चित्र और काव्य शिल्प की रमणीयता के दर्शन होते हैं। दूसरे सप्तक वालों का टकनीक सधा हुआ है और उनके काव्य विषय भी अपेक्षाकृत सरल हैं। सामाजिक व्यंग्य, प्रगतिशील प्रवृत्ति और राजनैतिक स्वर क्षीण है और वह भी सिर्फ गूँज भर है। पहले सप्तक वालों ने जितने मनोभावों को और मनुष्य दशाओं को मथा है उतना दूसरे सप्तक वालों ने नहीं। ऊपर लिखित कथन सिर्फ भेद दरशाने के लिए है न कि किसी की श्रेष्ठतरता स्थापित करने के लिए।

स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावाद के प्रति जो क्षोभ प्रकट किया वह एकदम निःसार और असंगत है यह नहीं कहा जा सकता। उन्होंने बार बार यह शिकायत की है कि छायावाद में अर्थ भूमि का संकोच हो गया है, मानव मन के बहुत ही अल्प और अमहत्त्वपूर्ण विषयों की ओर ध्यान दिया गया है। छायावाद के सार्वभौम एकच्छत्रता के वातावरण में नये कवियों ने केवल नम्रता प्रदर्शित करने के लिए अपनी कविताओं को प्रयोग कहा। वस्तुतः ये कविताएँ प्रयोग न होकर साक्षात कविताएँ थीं। नई कविता के विरोधियों ने निन्दा के तुच्छ भाव से प्रयोगवाद शब्द चला दिया। अब हमारे पाठक यह जान लें कि नई कविता कविता है—प्रयोग नहीं। अगर उनमें आज अधकचरापन दिखाई देता है। तो यह तो नई कविता की प्रारम्भिक अवस्था ही का लक्षण है जैसा कि यह छायावाद में भी था या कि अन्य साहित्यिक प्रणालियों की प्रारम्भिक अवस्था में हो सकता है। तो आइए अब नई कविताओं के स्वरूप पर थोड़ा विचार करें और उसकी सफलताओं पर भी दृष्टि डालें।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि नई कविता का कवि जगत और जीवन से सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति-परिस्थिति से आगस्क रहा। किन्तु उसकी, उनके प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएँ अन्तर्मुखी, भावप्रवण और निविड़ आत्मपूरक

रहा। इस आत्म-केन्द्रिता से उसकी बौद्धिकता अलग नही की जा सकती न उसका विश्व व प्रति लेखक के दृष्टिकोण पर कोई बोध आता है। उदाहरणत कवि जो भाव अपने हृदय म अनुभव करता है—चाहे वह राजनतिक हो या व्यक्तिगत—उस भाव को ठीक व स ही लिखना चाहेगा जसा वह वस्तुत उसके हृदय म है। उसके सारे रूप रग, स्थिति प्रलय का सच्चा चित्र उपस्थित करना चाहेगा जस घनघोर उदासी का इस प्रकार प्रकट करना—

आज उचटा सा हृदय,
साइरन बज जाये उसके बाद
निजन शून्य सड़कों सा निभृत
नि सग खाली
व्यथता की स्याह सी बेमाप
चादर स
अभी ज्यों ढक गया हो शून्य जी का प्रान्त (नेमिचन्द्र)

अगर कोई छायावादी कवि होता तो घनघोर उदासी के बेमनपन को वायवीय प्रकार से रखता। ध्यान रहे कि कलकत्ते मे बमबारी की आशका से मारवाड़िया और बनिया की बेतहाशा भीड स्टेशन पर जमी रहती थी। कलकत्ते म साइरन की आवाज एक भयानक सूचना थी, जिससे सारी सडकें सूनी पड जाती थी। अपने मन क वास्तविक भाव-सत्य को उसने यथाथ प्रेरित उपमाओ और प्रतीको मे बाँधा जसे—'लहू की बूँदा स जलते है सडका पर बिजली के बल्ब लाल लाल' (रामविलास शर्मा) शर्माजी युद्धातक के वातावरण का चित्रण कर रहे है। किन्तु यह कभी आवश्यक नही है कि उपमाएँ और चित्र बाहरी सामाजिक यथाथ से ही उद्भूत हुए हो किन्तु यह आवश्यक है कि प्रस्तुत उपमा या चित्र ठीक उसी मात्रा म और ठीक उसी रूप म उपस्थित किय जाएँ कि जिस मात्रा म और जिस रूप म कवि के भाव है। 'प्रभाव और भाव की अन्विति नयी कविता के टकनीक की पहली शत है।' साराश यह कि कल्पना तथा शली के सम्ब ध म नयी कविता म वज्ञानिकता बरती जाती है और भाव-तत्त्व क यथाथ स्वरूप चित्रण को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। इसका प्रधान कारण है नयी कविता का कवि जगत और जीवन से वस्तुवादी यथार्थोन्मुख दृष्टि लेकर जन्मा है चाहे वह अपने मन के निगूढतम भावो की सूक्ष्म से सूक्ष्म छटाओ का प्रकृतिरूपात्मक उपादानो क द्वारा चित्रित करता हो अथवा अपने मन की भाव स्थिति को आधुनिक सभ्यता के उपकरणो क प्रतीको द्वारा व्यक्त करता हो। उसकी कविता म सामाजिक यथाथ प्राकृतिक सौदय और सभ्यता से लेकर निगूढ भाव स्थितियो क विश्लेषण और चित्रण-व्यग्य और विद्रोह सभी सम्मिलित हैं। उसकी वास्तविकता-ग्राहक दृष्टि जब मन की स्थितियो पर मुडती है तो

कल्पना शक्ति के माध्यम से वह आत्माभिव्यक्ति का साधन बनती है जैसे अज्ञेय की यह कविता—

हम झर रहे, झर चलीं बूँदें
काल निर्झर की
उदधि की सदा प्रताड़ित दुन लहर
हमने नहीं माँगी
वासना के यातना से हम परे थे
सहज अनुरागी !!
वश थे सतरंग पर हम इन्द्रधनु के छोर
नहीं करना चाहते थे,
निरे मानव जीव की शत कण बुभुक्षा के
कुलाहल का आस्फालन
आत्मलय के छन्द का प्रमाथी
तप्त आवाहन
क्योंकि दोनों चल रहे थे एक ही
समताल की गति पर !!

अथवा धर्मवीर भारती की यह बात देखिए—

लेकिन फिर भी मजबूरी है
तुम दूर कहीं खाली खाली
भारी मन से
चुप चुप करती सी ढिबरी के नीचे बैठी
कुछ घर का काम काज धंधा करती होगी
यह शाम मुझे इस तरह
निगलती जाती है
कोहरे का पाख फैलाती नरभक्षिणी
यम चिड़िया सी
यह प्यार की मनहूस शाम मँडराती है !!

जहाँ तक राजनैतिक-सामाजिक चित्रणा का प्रश्न है श्री हरिनारायण व्यास रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे हमारे सामने प्रमुख रूप से आते हैं। राजनैतिक-सामाजिक आस्थाओं का भाव प्रधान स्वरूप हमें श्री हरिनारायण व्यास में ही मिलता है। यही कारण है कि वे शरणार्थी में इस प्रकार की पंक्तियाँ लिख सके—

हम पड़े हैं तम्बुओं में
गिन रहे हैं कल्पना के फूस की पखुरी

खून में भीगे हुए परिधान वसन
खा रहे हैं धूप उस मसान में

हंस' के शांति अंक में प्रकाशित शमशेर बहादुर सिंह की 'शांति' पर कविता हिंदी प्रगतिशील साहित्य में एकदम बेजोड़ है। सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्सुक भावनाओं की गहरी मानवता उसमें व्यंजित होती है। 'नयी कविता' में अब तक व्यंग्य और राजनैतिक विरोध का स्वर भी तीव्र तो था पर उसमें मानवीय गहराई का अभाव था। सो, शमशेर ने पूरा किया। समय के विशाल कनवास पर देश-देशान्तरों के मानव चित्रों का [illegible] करने का श्रेय नरेश मेहता को प्राप्त है। उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य को [illegible] की आँखों से देखा और उसके भव्य उदात्त चित्र खड़े किये—उसमें पर इनकी [illegible] की कुछ पंक्तियाँ ये हैं—

किरणमयी, तुम स्वर्ण दान में
स्वर्ण वन में
सिंचित है केसर के वन में
इन्द्रलोक की शीला
आज दो में धव धारा का
रथ कुछ [illegible] ग्रीवा।।

अथवा—

बरस रहा [illegible]
खेतों खलिहानों में
जीवन की नव किरण [illegible]
मकई के धानों में
सरिताओं में साम [illegible]
अहीर मनभावन।।

किन्तु चित्रकला की प्रधानता और [illegible] गिरिजा कुमार माथुर में ही है। किन्तु डॉ० [illegible] पूर्व' की झाँकी देखिए—

मौत् सीत करता बयार है [illegible]
पो फटने में भी पहर [illegible]
बरगद से कुछ दूरी पर [illegible]
ऊँचा सा टीला, [illegible]
[illegible]
ऊँचा मुँह कर देख रहा [illegible]
हुआ हुआ करते सियार हैं [illegible]।।

सारांश यह कि नई कविता में कोई भी विषय नहीं छूटता। ध्यान में रखने की बात सिर्फ इतनी है कि नई कविता भाव या अनुभूति को स्थिति या दृश्य को उसके मूर्त स्वरूप और सत्ता में पकड़ती है। कल्पना उसके लिए सिर्फ एक वैज्ञानिक अस्त्र है जिसके जरिए अंकन किया जाता है।

छायावाद और नयी कविता–२

बहुत दिनों में हिन्दी साहित्य में नयी कविता होती चली आई है। विगत दो दशाब्दियों से हिन्दी कविता ने जो नया रंग पकड़ा है उससे घबराकर बहुतों ने अलग-अलग कोणों से उसका विरोध भी किया। किन्तु आज यह प्रकट सत्य है कि नयी कविता को साहित्य के मैदान से कोई भी नहीं हटा सकता। जिस समय वह साहित्य के मैदान से हटती नजर आएगी तब यह देखा जाएगा कि भिन्न और नवीन प्रकार की काव्याभिरुचि और भिन्न और नवीन प्रकार की काव्यधारा उसका स्थान ले रही है। किन्तु इस समय कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता कि नयी कविता का पद और प्रभाव क्षीण हो रहा है।

पिछले बीस पच्चीस वर्षों के भीतर नयी काव्य प्रवृत्ति अनेक विकास-चरणों का पार करती हुई यहाँ तक आ पहुँची है। उसके भीतर अनेक शक्तियाँ अनेक भाव धाराएँ और अनेक वैचारिक दृष्टियाँ काम कर रही हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य और स्नेह भावना से लेकर तो सभ्यता, समीक्षा तक जो-जो भाव श्रेणियाँ सम्भव हो सकती हैं वे सब उसमें हैं। गीत और छन्दोबद्ध कविता से लेकर पद्याभास गद्य तक उसमें सम्मिलित हैं। दुर्भाग्य की बात केवल यह है कि उसके जो विरोधी समीक्षक हैं उसकी सारी कृतियाँ सारी श्रेणियाँ और भाव धाराओं को सामने रखकर, उनका अध्ययन करके उसका विरोध नहीं करते। केवल विरोधात्मक प्रचार को ही वे समीक्षा समझते हैं। किन्तु ऐसी समीक्षा का कोई मूल्य नहीं है। इतिहास ने यह स्पष्ट कर दिया है।

छत्तीसगढ़ नयी कविता के क्षेत्र में भी उभर रहा है। हमारे छत्तीसगढ़ में स्व॰ सतीश चौबे की केवल कुछ कविताओं ने ही हिन्दी संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। आज इसी छत्तीसगढ़ के श्रीकान्त वर्मा नयी कविता के क्षेत्र में नवीन उपलब्धियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। हिन्दी काव्य जगत उनसे पूर्णतः परिचित है। नाम गिनाना गलत करने से खाली नहीं है क्योंकि बहुत से नाम छूट भी सकते हैं। किन्तु श्री हरि ठाकुर का नाम भुलाना नहीं चाहूँगा जिनके

अथक प्रयासों के फलस्वरूप 'तार सप्तक' नामक जो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें नयी काव्य प्रवृत्ति को विशेष स्थान दिया गया। आज श्री नारायणदास परमार, श्री विश्वेश्वरनाथ ठाकुर तथा कई अन्य मित्र इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं। यह इस बात का सूचक है कि छत्तीसगढ़ का यह क्षेत्र नयी काव्यधारा से पूर्णतः परिचित है।

नयी कविता की आत्मा है आधुनिक भाव-बोध। आज का सुशिक्षित मनुष्य अपने परिवेश परिस्थितियों में जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता है संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ या उनका सामान्यीकरण नयी कविता में प्रकट होता है। इस सुशिक्षित मनुष्य का दृष्टिकोण मध्ययुगीन धार्मिक दृष्टि से अनुप्राणित अथवा छायावादी भावना से परिपूर्ण करने का प्रकार नहीं होता (मैं दृष्टिकोण की बात कर रहा हूँ)। विज्ञान के इस युग में उसकी दृष्टि यथार्थोन्मुख तथा समकालीन होती है। वह यथार्थ सम्बन्धों को ग्रहण कर यथार्थ बोध द्वारा संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता है और वस्तुरूप चयन का प्रयत्न करता है। सम्प्रदायिकता सद्भावना और सदाचार—ये सब ऊपरी ऊपरी व्यावहारिक बातें हैं व्यावहारिक सुविधा से उत्पन्न हैं। संक्षेप में मनुष्य मूलतः पशु है। अतएव दुःख सनातन है। दुःख से उबरने का कोई उपाय नहीं।

इसी प्रकार यह कहा गया है कि वर्तमान सभ्यता औद्योगिक सभ्यता है। औद्योगिक सभ्यता यांत्रिक सभ्यता है जिसमें मनुष्य सिर्फ एक पुर्जा है इससे ज्यादा कुछ नहीं। वह स्वभावतः स्वार्थ प्रेरित है। उसका मूल लक्ष्य स्वार्थ-पूर्ति है। हाँ, यह सही है कि कभी कभी किन्हीं अवसरों पर वह महापुरुष और वीर पुरुष के रूप में भी सामने आता है किन्तु यह भी एक धोखा है। मनुष्य विविध मनोवैज्ञानिक स्वार्थों से प्रेरित होकर महान बनता है। आत्मप्रदर्शन प्रवृत्ति निम्नता भाव के विपर्यय से उत्पन्न उच्चताभाव अधिकार प्राप्ति की भावना इत्यादि इत्यादि न मालूम कितनी ही सूक्ष्म किन्तु निम्न प्रवृत्तियों से परिचालित होकर मनुष्य वीरपुरुष और महापुरुष के रूप में प्रस्तुत होता है।

आज यूरोप-अमरीका में एक विशेष प्रकार की समाज-समीक्षा सामाजिक आलोचना सभ्यता-समीक्षा प्रचलित है। कई ऐसे लेखक कवि हैं जो भारतीय अनुभव को ध्यान में न रखकर विदेशों में प्रचलित जो सभ्यता-समीक्षा है उसको अपनाकर काव्य में अपनी भावनाएँ प्रकट करते हैं। पश्चिमी जगत में प्रचलित सभ्यता समीक्षा की एक विशेषता यह है कि उसमें मानव की उन्नतिपरक शक्तियों में आस्था का अभाव है। कहा गया है कि मानव स्वभावतः, क्षुद्र है तुच्छ है हम सब दिखाई देते हैं। पैसे की कीमत बढ़ गयी है। आदमी की कीमत गिर गयी है। ऐसी स्थिति में भारतीय कवि की कविता में उदासी और विफलता, ग्लानि और क्षोभ का चित्रण होना स्वाभाविक है। अतएव उसे यूरोप-अमरीका

मे उधार ली हुई भावना कहना असगत प्रतीत होता है। होता यह है कि कवि अपनी स्वय की मन स्थिति और अपने स्वय रुझान और मनोदशाओ के अनुसार बाहर के प्रभाव ग्रहण करता है। अमरीकी भाव-तत्त्वो को भारतीय वश म उपस्थित करते-से दिखाई देते ह। अगर यूरोप अमरीका का कवि उदास है और उसका जी काट खाने को होता है तो हमारे यहा के कवि भी उदासी को फशनेबल समझकर कविता म उदासी का चित्रण करते है। यह गलत है।

किन्तु यही समीक्षको के सामने एक समस्या उठ खडी होती है। आज सुशिक्षित मध्यवग के लिए भारतीय परिस्थिति अनुकूल नहीं है। भ्रष्टाचार अनाचार, ठगी, कलह राग-द्वेष दावपेच के दश्य म आधुनिक साहित्य-बोध को भी परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। ये परिभाषाएँ भिन्न भिन्न प्रकार की है। महत्त्व की बात कवल इतनी है कि आधुनिक सवेदना एक विशेष परिभाषा की सीमा के अतगत नही लाई जा सकती। किन्तु यह बात सही है कि पूवतर युगो का भाव दृष्टियो से वह सवथा भिन्न है। वह कहाँ किस प्रकार भिन्न है यह पहल बताया जा चुका है। किन्तु खेद की बात यह है कि आधुनिकता के आत्मभूत देश यूरोप-अमरीका माने गये है। फलत बहुत से कवि यूरोपीय यह सभ्यता मानव-व्यक्तित्व का हनन करती है उसका नाश करती है। मानव आत्मा और मानव व्यक्तित्व का उदभव और विकास उसम नही होता। समाजवादी और पूजीवादी दुनियाओ म अन्तर केवल यह है कि पूजीवादी दुनिया म व्यक्ति को चीखने चिल्लाने का अधिकार है। किन्तु परिस्थितिया ऐसी ह कि वह अपना विकास नही कर सकता यद्यपि साम्यवादी दुनिया म तानाशाही के कारण वहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के अभाव म व्यक्ति विकास का प्रश्न ही नही उठता। यानी कि इस सवाल पर चौतरफा नजर डालन पर यही साबित होता है कि व्यक्ति की आत्म स्थिति अर्थात व्यक्ति के स्वभाव की भांति ही उसकी बाह्य स्थिति और परिवेश निराशाप्रद ह। और आत्मिक और बाह्यगत दोनो दृष्टियो और क्षेत्रो म यह जो दुख और निराशा है, मूलभूत अनिवार्य और अटल है। मनुष्य की इसम उबरने की कोशिश केवल एक मानसिक बहलावा है इससे अधिक कुछ नही।

बहुत-से व्यक्ति समाज म लीन होकर राजनतिक और सामाजिक कार्यों म अपनी मुक्ति की खोज करते ह जनता के उद्धार म अपना उद्धार देखते हैं। किन्तु जनता क्या है ? उसका अपना कोई मन नहीं होता, जिधर हाँको उधर हँकती है। जनता भार है। जनता क्या ह ? एक भीड है। भीड की अपनी कोई आत्मा नहीं होती। भीड सामूहिक उत्तेजना म—अनजानी उत्तेजनाओ म—काय करती है। सन्तुलित बुद्धि से खूब सोच विचार करके एकान्त चिंतन के द्वारा वह किसी निणय पर नही पहुँचती

उसमें आत्मा नहीं होती। ये तुलना के तौर पर ये साम्प्रतिक प्रस्थान-भाव व्यक्ति के अपने आत्मगत के नाते के प्रमाण हैं। व्यक्ति मूलतः आत्मगत होता है। व्यक्ति मूलतः अद्वितीय होता है। अपनी अद्वितीयता की रक्षा के द्वारा ही मनुष्य सृजनशील हो सकता है, वस्तुतः आत्मवादी हो सकता है। दूसरे शब्दों में जो व्यक्ति अपनी अद्वितीयता की रक्षा चाहता है, सृजनशील होना चाहता है वह समाज को अपना कोई योग न दे और न वह अपने को जनता में विलीन न हो जाय। दूसरे शब्दों में व्यक्ति अद्वितीय व्यक्ति सृजनशील व्यक्ति समाज और जनता से अलग रहकर मौलिक साहित्य दे सकने की स्थिति में हो सकता है। नहीं तो नहीं। और इस प्रकार सृजन-व्यापार ही में मानव की सच्ची मुक्ति है या उसकी आत्मपूर्ति है।

अब यह समझ में आ गया होगा कि नयी कविता में प्रचलित बहुतेरा निराशावाद और जनता और समाज से अलग रहकर जीने की यह प्रवृत्ति अर्थात्—व्यक्तिवाद—दोनों एक दार्शनिक भूमिका में दार्शनिक विचारधारा का रूप धारण कर हिन्दी साहित्य में—नयी कविता के क्षेत्र में—खूब प्रचलित है। भारतीय मध्यवर्गीय जीवन में आज जो द्वन्द्वपूर्ण, अवसन्न, दुःखमय स्थिति है उसकी प्रधान मनोदशाओं को आज योरप अमरीका की यह वैचारिक प्रवाह प्राप्त हो जाता है। और इस प्रकार नये काव्य में स्वप्न-भंग, खेद, ग्लानि और निराशा के भावों को एक वैचारिक भूमिका और दर्शन मिल जाता है जिसमें व्यक्ति-समीक्षा, सभ्यता-समीक्षा और मानव-भाग्य-समीक्षा भी है।

मैं इस वैचारिक प्रवृत्ति का विरोध करता हूँ। बहुतेरे लोग इसका विरोध करते हैं। किन्तु यह प्रवृत्ति प्रबल है।

ध्यान में रखने की बात है कि नयी कविता के पूरे क्षेत्र को इस वैचारिक प्रवृत्ति ने—इस निराशा-दर्शन ने इस अमरीकीवाद ने नहीं घेरा है। उसका कुछ अंश ही इस प्रवृत्ति का शिकार है। किन्तु नयी कविता के क्षेत्र का यह अंश संगठित है और संगठित रूप से इसका प्रचार होता है। इन लोगों के लोकप्रिय विदेशी पत्रों में इसी तरह के लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

किन्तु नयी कविता के क्षेत्र में कुछ आवाजें ऐसी हैं जो भारतीय व्यक्तित्व की भारतीयता की रक्षा चाहती हैं। वे भारतीय व्यक्तित्व को पश्चिमी जगत से नहीं वरन एशिया, अफ्रीका, दक्षिण अमरीका से जोड़ना चाहती हैं। इन देशों में समाज परिवर्तन, संघर्ष और निर्माण की प्रक्रिया जारी है। इसमें जनता और उसका नेतृत्व दोनों खूब भाग लेते हैं। वहाँ भी साहित्य विकासमान हो रहा है। अल्जीरिया और इजिप्त, कांगो और क्यूबा, सीलोन और जापान, इंडोनीशिया और अर्जेंटीना जैसे देशों में जिन्दगी नये उभार पर है और वह विभिन्न कलात्मक माध्यमों से प्रकट हो रही है। नयी कविता का एक क्षेत्र या यों कहिए

कि नयी पीढ़ियों का एक हिस्सा मानसिक रूप से अपने को इन उठते हुए देशों के निकट पाता है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि नयी कविता का मूलप्राण है आधुनिक भाव बोध। यह आधुनिक भाव बोध पश्चिमी जगत के व्यक्तिवादी निराशावादी दर्शन से अनुप्राणित हो अथवा भारत के अपने भविष्य-स्वप्न से। भारत के अपने भविष्य-स्वप्न से जो प्रेरित हैं, वे तथाकथित पिछड़े देशों के संघर्षों और निर्माणों को प्रस्तुत करने वाली प्रेरणाओं के अधिक निकट पाते हैं स्वयं को। भविष्य भी इन्हीं के साथ है क्योंकि वे मानव की उन्नति-परक शक्तियों में मानव की उद्धार क्षमता में, समाजवाद और जनतन्त्र में भारतीय संस्कृति की विकास शक्तियों में प्रगाढ़ विश्वास रखते हैं।

दुनिया छोटी होती जा रही है। राष्ट्रीयता के भाव अन्तर्राष्ट्रीयता से अलग नहीं किये जा सकते। नयी कला, नयी कविता स्वयं एक अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु हो गयी है। किन्तु अपनी भूमि और अपने देश की मिट्टी में रहकर ही विश्वात्मक हुआ जा सकता है नहीं तो नहीं।

इस व्यापक भावभूमि में यदि हम चलें तो हम पाएँगे कि नयी काव्य प्रवृत्ति, *जो केवल क्षण चित्रों को प्रस्तुत करती है इस दायित्व को निभा नहीं पाती।* क्षण चित्र अपने-आप में अपूर्ण है। जीवन समग्र है किन्तु वह अपनी समष्टि में उलझा हुआ है। अतएव, कोई भी क्षण चित्र उस समग्र को उसकी सारी पेचीदगियों में प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता। यही दुर्भाग्य है। लेखक की मूल प्रवृत्ति यह हो गयी है कि किसी भी जीवन खण्ड में प्रकट एक स्थिति एक प्रसंग के अन्तर्गत एक विशेष भाव को पकड़ ले और उसे शब्द बद्ध कर दे। वह उस भाव से सम्बद्ध अन्य सूत्रों को पकड़कर उन्हें प्रस्तुत नहीं कर पाता। इससे यही सूचित होता है कि वास्तविक जीवन विश्लेषण की क्षमता उसमें नहीं है। वह बाह्य के प्रति केवल संवेदनाघात करके संवेदनात्मक प्रतिक्रिया करके उसे शब्दों में बाँध देता है। मेरे कथन का यह अर्थ नहीं है कि जीवन विश्लेषण के विस्तृत चित्रों का नितान्त अभाव है। नयी कविता के क्षेत्र में ऐसी बहुतेरी कृतियाँ मौजूद हैं जिनमें जीवन के विस्तृत चित्र जीवन की विभिन्न परस्पर संलग्न समस्याएँ तथा दिक्-संकेत प्राप्त होते हैं। किन्तु प्रधानता उनकी नहीं है। ऐसा क्यों? यह इसलिए है कि कवि-कलाकार यथार्थ बोध के प्रथम स्तर पर, संवेदनात्मक आकलन और संवेदनात्मक प्रतिक्रिया के स्तर पर ही रहना चाहते हैं वे वास्तविक जीवन विश्लेषण का उसकी पूरी गहराई को आत्मसात करना नहीं चाहते, ऐसा प्रतीत होता है। यही कारण है कि जीवन के विस्तार चित्र हम नयी कविता में कम दिखाई देते हैं क्योंकि उसमें केवल विशिष्ट का चित्रण ही नहीं, वरन् परस्पर-सम्बन्धित विशिष्टों का चित्रण और उनका सामान्यीकरण—

विश्लेषण और समन्वय—इन दोनों की आवश्यकता है। गहराई से जीवन में पैठने के अतिरिक्त जीवन के वैविध्य के अनुभव, जीवन चिंतन और कलात्मक उपलब्धि के लिए आवश्यक अभिव्यक्ति-क्षमता—यह सब चाहिए। तभी हम एक विशेष दृष्टि से अनुभवों का संकलन करके उन्हें क्रम-बद्ध रूप में एक मनोहर काव्यात्मक प्रकाश वातावरण के भीतर स्थापित कर सकेंगे। किन्तु यह नहीं होता है क्योंकि क्षण चित्र उपस्थित करने में जो सुकरता और सुविधा होती है वह इसमें नहीं है। ध्यान में रखिए कि नयी कविता की भी एक रूढ़ि बन गयी है (किसी भी काव्य रूढ़ि को बनने के लिए बीस पच्चीस साल बहुत होते हैं) और इस रूढ़ि के अनुरोधों के कारण अगला विकास भविष्य पर छोड़ दिया गया है।

सच बात तो यह है कि जीवन विश्लेषणपरक विस्तृत चित्रण करने के लिए जिस बौद्धिकता और संकलित अनुभव चित्रों के गठन के लिए जिस बुद्धि शक्ति की आवश्यकता होती है वह इस क्षेत्र में बहुत कम दिखाई देती है। वस्तुतः नयी कविता वाले ठीक ही कहते हैं जब वे यह कहते हैं कि हमारी कविता बौद्धिक नहीं है। नयी कविता को बौद्धिक कहने वाले वे लोग हैं जो छायावादी कल्पना प्रधान भावुकतावाद की दृष्टि से, उसके पैमाने को ध्यान में रखते हुए नयी कविता को देखते हैं। नयी कविता की गद्यात्मक आभा को देखकर वे उसे बौद्धिक कहते हैं। किन्तु नयी कविता में किसी बौद्धिक प्रक्रिया का उत्कर्ष नहीं दिखाई देता उसमें तो संवेदनाघातों या उनके सामान्यीकरण अर्थात् सामान्यीकृत भावों की ही प्रधानता है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

किन्तु, यदि हमें सम्पूर्ण आधुनिक भाव-बोध को चित्रित करना है तो हमें तीव्रतम संवेदना शक्ति के अतिरिक्त सूक्ष्म का अवगाहन करने वाली बुद्धि और उसकी विश्लेषण क्षमता चाहिए ही। और उसके अतिरिक्त हमें विरोध-दृष्टि से अनुभव-संकलन और उनका क्रमबद्ध चित्रण गठन की भी आवश्यकता होती है।

इसी को मैं दूसरे शब्दों में यों कहूँगा कि हम कोई प्रयोगवाद और नयी कविता के नपे-तुले जाने माने दायरे से निकलकर नव-क्लासिकवाद की तरफ मुड़ना होगा तभी हम यथार्थ के परस्पर अंतःसम्बन्धों की गहराई से समझकर जीवन के वैविध्य को इस प्रकार रख सकेंगे कि जिसमें कोई निष्कर्ष निकल सके। दूसरे शब्दों में हम अनुभव संकलित करके उनके क्रम चित्रों का एक ऐसा संगठन उपस्थित कर सकेंगे जो यथार्थ को प्रस्तुत करता हो उस यथार्थ की सारभूत विशेषताओं के चित्रण द्वारा किन्हीं जीवन निष्कर्षों को अंकित और संकेतित कर सकेगा।

जिस प्रकार आज जीवन छिन्न विच्छिन्न है, उसी प्रकार संभवतः उन्हीं छिन्न विच्छिन्नताओं के परिणामस्वरूप, नये काव्य में सब ओर क्षण चित्र ही

क्षण चित्र है। किन्तु यह स्थिति स्थिति होने मात्र से अपने औचित्य को सिद्ध नहीं कर सकती। अतएव, आवश्यकता इस बात की है कि एक ओर भारतीय भूमि और आकाश में नयी कविता अधिक से अधिक रमे तो दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि हम नव-रूमानिकवाद की तरफ मुड़ते हुए वैविध्यपूर्ण जीवन के सारभूत निष्कर्षों और दिक्संकेतों को प्रकट कर सकें—अनुभूत यथार्थ के परस्पर अंत:सम्बन्धों को अनुभव चित्रों के संगठन के द्वारा। तभी हम आधुनिक युग के बहिष्कार, सत्य की गहनता और वैविध्य को उसके सारे महत्त्व के साथ, कलात्मक अभिव्यक्ति दे सकेंगे।

नयी कविता : निस्सहाय नकारात्मकता

नयी कविता के वर्तमान स्वरूप के प्रति कइयों में असंतोष है—स्वयं उन बहुत से कवियों में भी जो इस धारा के अंग हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि इस धारा का विश्लेषण विवेचन खास वे लोग करें जो एक ओर तो इस धारा के अंग हैं तो दूसरी ओर उससे असंतुष्ट भी हैं। असंतोष प्रगति का लक्षण माना जाता है, किन्तु वह उसका वास्तविक लक्षण तो तब सिद्ध होगा, जब प्रगति वस्तुतः हो, होकर रहे।

काव्य का उन्नयन और विकास निःसन्देह एक जटिल प्रक्रिया है। केवल कवि प्रतिभा पर भी काव्य की उन्नति निर्भर नहीं है। हाँ, उसकी उन्नति के लिए जो तत्त्व आवश्यक होते हैं उनमें कवि की क्षमता भी एक तत्त्व है, किन्तु केवल वही पर्याप्त नहीं होता। उदाहरणार्थ, पश्चिमी जगत की द्वितीय युद्धोत्तर कविता में यद्यपि नया मोड़ है, फिर भी द्वितीय युद्ध पूर्व उसका जो उठान थी, उसकी ऊँचाई तक वर्तमान काव्य नहीं पहुँचा है—यह कितनों की राय है। संभव है, अनेक अन्य विद्वान् इस बात को काटने के लिए कुछ युक्तियाँ और प्रमाण प्रस्तुत करें। किन्तु यह निश्चित तथ्य है कि काव्य-साहित्य की उन्नति उत्तरोत्तर और अनवरत होती जाए, यह अनिवार्य नियम नहीं है।

हिन्दी के वर्तमान काव्य साहित्य के प्रति कुछ लोगों में जो असंतोष है, उसे देखकर यह कहना पड़ता है कि यह असंतोष इसलिए है कि काव्य में जो कुछ वह कहना या देखना चाहते हैं, वह प्रकट नहीं होता है या नहीं हो पाता। कोई चीज कहीं खो गई है, गुम हो गई है। जो बुनियादी है, बुनियादी होकर सतानी है, वह नहीं मिल पाती। उच्छ्वास की कमी नहीं, वातावरण चित्रण, प्रतीकात्मक भाव व्यंजना, अनूठी शैली। जी हाँ, सब-कुछ है। किन्तु जीवन का जो मूल सत्य है, वह तिरोहित है। शायद सत्य है भी कि नहीं इसमें सन्देह है, किन्तु असत्य भी जीवन का सत्य है, वह पूर्णतः चित्रित हो। सो वह भी नहीं। एक निःसहाय नकारात्मकता अथवा अधिक से अधिक जीवन के छिटपुट चित्र—जिसमें कभी आलोचनात्मकता है तो औदासीन्य का कलुष। इस स्थिति के विरुद्ध स्वयं कवि

ही विद्रोह कर उठता है (भले वह उसे कहे या न कहे)। हाँ, यह सही है कि जीवन के इन छिटपुट चित्रों में भी भाव गंभीरता है तथा सचाई होती है (नहीं भी होती है)। फिर भी, उनसे सन्तोष नहीं हो पाता। कुछ और चाहिए और, और!!— वह चाहिए जो जीवन को उसकी समग्रता में, उसकी सारी विशेषताओं सहित, प्रकट करे। केवल छिटपुट प्रयत्नों में (और उसकी वाहवाही में) अब मजा नहीं आता।

इसलिए कुछ लोग 'खोज' पर विश्वास करते हैं। सतत अन्वेषण, सतत अनुसंधान के पथ का नाम लेते लोग कम नहीं। किन्तु अनुसंधान और अन्वेषण का थिओराइजेशन (केवल विचारणा केवल सिद्धान्त-स्थापन) ही किया जाता है। अधिक से अधिक वह आत्मान्वेषण और आत्मानुसंधान बनकर जाता है जिसके आवेग में दो चार, पाँच-दस, दस-बीस कविताएँ बनाकर मामला ठप्प हो जाता है। और ऐसी कविताओं में आवृत्ति पुनरावृत्ति आवृत्ति पुनरावृत्ति। फिर वही दुष्ट चाल। संक्षेप में एक घेरा बन गया है उसमें से निकलना मुश्किल है।

इस प्रकार के या ऐसे ही किसी अन्य प्रकार के विचार सुनने का अवसर मिला करता है। बहुत-से लोग पश्चिमी काव्याभ्यासी होकर अनुवाद काम में इसलिए तल्लीन हैं कि उस अभ्यास के द्वारा उन्हें नई अभिव्यक्ति प्राप्त हो सकेगी। ऐसे कवियों के मन में यह भाव प्रधान हो उठा है कि अभिव्यक्ति-शाली प्राप्त करने से हमारी कुछ कमियाँ दूर हो सकेंगी। अतएव अनुवादकार्य काव्याभ्यास का आवश्यक अंग माना जा रहा है।

इस संबंध में भी कुछ विचार हो जाए। पहली बात तो यह है कि मनुष्य का कोई सच्चा श्रम अकारथ नहीं जाता। इसलिए काव्यानुवाद का भी निःसन्देह, अपना एक महत्त्व है। सन्त रामदास ने कवि को शब्दों का ईश्वर कहा था। किन्तु हमारे प्राचीन सिद्धान्त शास्त्री, प्रतिभा के अतिरिक्त, निपुणता और अभ्यास को महत्त्व देते आए हैं। आज के युग में जबकि परिवर्तन की गति द्रुततर है, जबकि जगत् अधिकाधिक परस्पर सम्बद्ध और संक्षिप्त होता जा रहा है जबकि घटनाओं का वेग तीव्र होकर सामाजिक जीवन में तरह-तरह की ध्वनि प्रतिध्वनियाँ उत्पन्न कर रहा है जबकि व्यक्ति-जीवन में भाँति भाँति के उत्तर-दायित्व प्रधान हो रहे हैं सामाजिक जीवन जटिल होकर कर्त्तव्य भावना शिथिल हो गई है—तो ऐसी स्थिति में मन के भीतर जो उद्वेग है जो एकालाप है जो सूर है उसकी प्रभावमय अभिव्यक्ति के लिए निःसन्देह शब्द-सम्पदा चाहिए अभिव्यक्ति का अभ्यास चाहिए, यदि विदेशी स्रोतों से सहायता मिल सकती हो तो उसे लेने में मुझे कोई हर्ज नहीं दीखता।

किन्तु (और यह बहुत बड़ा किन्तु है) यह विदेशी सहायता भारतीय जीवन का हमारे अन्तर्जीवन का, कवि-जीवन का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती, हमारे

मूल उद्गम का स्थान नहीं ले सकती, हमारी जीवन-दिशा का स्थान नहीं ले सकती। ये सभी स्वीकरणीय या अस्वीकरणीय हैं यदि हम अपने वस्तु-तत्त्व से पूर्णतः भरे हों। अपनी भाषा, अपना इतिहास, अपनी संस्कृति और साहित्य के जो श्रेष्ठ समतावादी तत्त्व हैं, उनसे एकीभूत होकर ही और विश्व-जीवन के विकासशील विरोधों से शिक्षा प्राप्त होकर ही हमारे वस्तु-तत्त्व के आपसी और अनुरोधों की पूर्ति करने के लिए ही यह सहायता आवश्यक है। यह उसकी साथी होनी चाहिए। यदि हमारी ऐसी स्थिति नहीं है तो निःसन्देह यह सहायता प्रतिकूल है। निष्कर्ष यह कि मुख्य प्रश्न जीवन-धारा का प्रश्न है, न कि अभिव्यक्ति-सम्पन्नता के अन्वेषण का।

२

यह बिलकुल सही है कि कवि को पण्डित, आचार्य या शास्त्रज्ञ होने की आवश्यकता नहीं है; उसके काव्य का सौन्दर्य उसके पाण्डित्य और आचार्यत्व पर निर्भर न होकर उसकी भाव-समृद्धि और अभिव्यक्ति-क्षमता पर निर्भर है। किन्तु मुश्किल बात यह है कि भाव-समृद्धि और अभिव्यक्ति-क्षमता दोनों एकीभूत सम्मिलित स्थिति में बहुत कम पाई जाती हैं। अगर सचमुच ऐसा होता तो क्या बात थी। शायद इसीलिए सतत अभ्यास की आवश्यकता है। किन्तु इनके तथा अन्य बातों के अतिरिक्त काव्य-सौन्दर्य के लिए एक और चीज की जरूरत है। वह है—सौंदर्य की थियरी।

आप मानिए या न मानिए, मेरा तजुर्बा यह है कि रचनाकार के मन में सौन्दर्य का कोई नमूना, कोई डिजाइन, कोई पैटर्न होना जरूर है। लेखक यह कोशिश करता है कि उसकी कृति नमूने के समीपतर हो। इसी बात को मैं दूसरे शब्दों में कहता हूँ। सौन्दर्य-सम्बन्धी कोई कल्पना-कृति है जिसे हम यदि वैचारिक शब्दावली में कहें तो थियरी कह सकते हैं। यह सच है कि कवि रचना करते समय उसमें इस प्रकार सचेत नहीं रहता मानो वह कोई बाह्य चित्र हो या बाह्य सिद्धान्त हो। किन्तु सौन्दर्य-सम्बन्धी वह कल्पनाकृति थियरी के तत्त्व या सिद्धान्त के तत्त्व अवश्य रखती है। सौन्दर्य-सम्बन्धी लेखक की वह मान्यता, जिसके अनुसार वह रचना करता है, रचना-प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। होता यह है कि सौन्दर्य-सम्बन्धी वे कल्पनाकृतियाँ, वे धारणाएँ कभी-कभी अपने ही वस्तु-तत्त्वों के अभिव्यक्ति-रूपों के विरुद्ध पूर्वाग्रह भी बन जाती हैं। इन पूर्वाग्रहों के कारण वे अभिव्यक्ति-रूप काव्य में स्थान नहीं ले पाते, दूसरे शब्दों में या तो वस्तु-तत्त्व ही काटकर फेंक दिए जाते हैं या उन्हें ऐसी अभिव्यक्ति दी जाती है जो उनकी मूल अभिव्यक्ति स्वभावतः नहीं है। इस प्रकार पुराना घेरा ज्यों का त्यों बना रहता है।

इस सम्बन्ध म एक बात और निवेदनीय है। वह यह कि बहुतेरे कविजन यह सोचते हैं या यह सोचने के लिए मजबूर हो जाते कि चूंकि प्रत्येक कवि की अपनी विशेष अभिव्यक्ति शैली हुआ करती है इसलिए उस विशेष अभिव्यक्ति शैली के विकसित होने पर कवि ने एक मजिल तय कर ली। महत्त्व की बात यह है कि अभिव्यक्ति प्रयास के दीर्घकाल म जो शैली विकसित हो जाती है वह आगे चल कर कवि का एक बहुत बडा बन्धन भी हो जाती है। सभी तरह के अनुभूत वस्तु तत्त्व एक ही प्रकार की अभिव्यक्ति शैली म नही बाँधे जा सकते। यह तो कहने की बात है कि तत्त्व स्वय ही अपना रूप ग्रहण करता है। सच बात तो यह है कि पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करने की प्रक्रिया म तत्त्व स्वय बदलने लगता है। यहा तक कि प्रारम्भत जिस उद्वेगपूर्ण भाव को लेकर कवि लिख रहा था कृति उस मूलभाव म दूर चली जाती है, उसम भिन्न हो जाती है इसलिए मेरा यह मत रहा है कि कला म वस्तुत आत्माभिव्यक्ति नही हुआ करती। अभिव्यक्ति होती है किन्तु जीने और भोगने वाले अपने मन की अपनी आत्मा की वह सच्ची अभिव्यक्ति है यह कहने का साहस नही हो पाता। वस्तुत यह आत्माभिव्यक्ति नही है। सौन्दर्य-सम्बन्धी अपनी-अपनी धारणाओ के अनुसार जो लोग अत्यधिक विशिष्ट बनने का प्रयत्न करते हैं और उसम उलझकर रह जाते है चाहे वे होमा कोई वे न आत्माभिव्यक्ति करते है न सामान्याभिव्यक्ति। सच बात तो यह कि आत्मपरक रूप से विश्वपरक जगतपरक होने की लम्बी प्रक्रिया अभिव्यक्ति-कौशल के क्षेत्र म और अनुभूति अर्थात अनुभूत वस्तुतत्त्व के क्षेत्र मे।

दूसरे शब्दो म सतत अन्वेषण और सतत अनुसधान का बाजा बजाने वाले लोग वस्तुत, प्रयोग नही कर रहे है, वे प्रयोगवादी नही है, वे घेरे म फँसे हुए लोग हैं बहुत से उसी म खुश है कई अपनी इस स्थिति से असन्तुष्ट भी हैं। किन्तु यह घेरा तब तक नही टूट सकता जब तक कि वस्तु-तत्त्व भिन्न भिन्न होकर व्यापक होकर विभिन्न काव्यरूप ग्रहण नही करते। अथवा इसी बात को मैं इस तरह कहूँगा कि काव्य रूप म बँधने वाले तत्त्व और वस्तुत अनुभूत होने वाले तत्त्व इन दोनो की यदि हम तुलना करें तो पायेंगे बहुत कम अनुभूत वस्तु-तत्त्व काव्य रूप ग्रहण करते है। शेष वस्तु तत्त्वो को काव्य रूप देने का प्रयत्न नही किया जाता। और यदि किया भी जाता है तो सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओ की तृप्ति न होने की स्थिति म उनको काट कर फेंक दिया जाता है। फलत कवि-व्यक्तित्व और वास्तविक व्यक्तित्व म जमीन आसमान का फर्क दिखाई देता है। कविता म केवल एक ही स्थायीभाव बार बार प्रकट होकर समाप्त हो जाते हैं यद्यपि सवेदनशील मन जीवन-जगत को आत्मसात करता हुआ और उसके विरुद्ध अनुकूल क्रिया प्रतिक्रिया करता हुआ अपना सचेत जीवन जिया करता है। फलत, कभी-कभी तो यह होता है कि कवि व्यक्तित्व वास्तविक व्यक्तित्व का

प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता।

भाव अथवा जीवन के जो छिटपुट चित्र कवि उपस्थित करता है, उनमें मात्र विशिष्ट क्षण का चित्र बहुत कम होता है। सच बात तो यह है कि उसमें एक दिशा में जाने जाने अथवा एक ही प्रकार का विभिन्न भावों का सामान्यीकरण जनरलाइजेशन होता है। किन्तु जीवन के जो अन्य अनुभूत वस्तु-तत्त्व हैं उनमें इन सामान्यीकरणों का मानो कोई सम्बन्ध न हो ऐसा दिखाई देता है। जीवन विभिन्न अनुभूत भावों व विभिन्न अनुभूत वस्तु-तत्त्वों का उनमें सायुज्य-स्थापन नहीं है ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए लगता है रचनाकार के व्यक्तित्व में अन्तर्विभाजन है। काव्य रूप ग्रहण करने वाले वस्तु-तत्त्व अनेक और विशिष्ट विशिष्ट जीवन में अनुभूत होने वाले वास्तविक क्षण पृथक और विशिष्ट इन सबका विशाल सामान्यीकरणों के अन्तर्गत संयोजन न होने से बड़ी गड़बड़ है।

संक्षेप में काव्य में जीवन के व्यापक चित्र चाहिए न कि छिटपुट। व्यापक चित्रों में जीवन के विविध क्षणों और अनुभव का सामान्यीकरण निश्चय आवश्यक है। यह न होने से तृप्ति नहीं होती मार्गदर्शन नहीं होता। जिन्दगी को जीने और उस से चलने का उत्साह और उसकी दीप्ति हम काव्य से मिलनी चाहिए। जीवन के विविध अनुभवों के सामान्यीकरण से उत्पन्न जो निष्कर्ष रूप दीप्ति है वही दे सकती है। कविता यदि जीवन वहन का लालटेन हो सके इसका हम प्रयत्न करना होगा।

भारतीय मन की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। वह साहित्य को अपने आत्मीय परमप्रिय मित्र की भांति देखना चाहता है जो रास्ते चलते उससे बात कर सके सलाह दे सके डांट छांट कर सके प्रेरित कर सके पीठ सहला सके और मार्ग दर्शन कर सके। भारतीय साहित्य में उन लोगों की वाणी को ही प्रधानता मिली है जिन्होंने आध्यात्मिक सन्तापों और अतृप्तियों को दूर करने की दिशा में विवेक-चेतना स्थिति में मस्त होकर काम किया है। आशा है कि हम लोग वैसा ही करेंगे।

नयी कविता की प्रकृति

नयी कविता की प्रकृति और रूप की चर्चा करना यहां व्यर्थ है। इतना कहना काफी है कि वह व्यक्ति-मन की प्रतिक्रिया है। प्रथम उन्मेष-काल में उसके पास आदर्शवाद था, सामाजिक विषमताओं को दूर करने के कार्य में लगने के अतिरिक्त, विषमताहीन समाज-व्यवस्था का स्वप्न और व्यक्ति विकास की अनन्त सम्भावनाओं का स्वप्न भी उसके पास था। फलत, यदि उसके काव्य में समाज के (वर्तमान पूंजीवादी समाज के) प्रति क्षोभ और कष्ट भावना थी, तो दूसरी ओर वैफल्य का भान भी था। किन्तु यह वैफल्य उसका व्यक्तिगत था। एक विशिष्ट समाज वर्ग और परिवार में पाये जाने वाले व्यक्ति के मानस का चित्रण उसमें है उसमें एक मनोवृत्तान्त है। यदि कवि अपनी आत्म-परक कविता में अपनी व्यथा प्रकट नहीं करेगा तो फिर कहां करेगा। उसकी उदासी और विफलता रोमैंटिक नहीं है वरन इसके विपरीत वह वास्तविक जीवन-समस्याओं से उत्पन्न है। उसके पास आदर्शवाद और आशावाद भी है। अतएव वह अपने व्यक्तिगत सुख दुःख के परे जाकर खतरा मोल लेते हुए राजनैतिक-सामाजिक विषय की कविता लिखने के पहले उस क्षेत्र में स्वत कार्य करता है और उसके साथ राजनैतिक-सामाजिक काव्य विषय भी चुनता है संक्षेप में काव्य रचना उसके जीवन से सबद्ध है—ऐसे जीवन से जो उसके काव्य की मूल भूमि है। ध्यान में रखने की बात है कि आगे चलकर नई कविता के डिफेन्स में जब प्रगतिवादी दृष्टि का विरोध किया गया तब सबसे पहले जीवन और काव्यानुभूति की समानान्तरता या पैरेलेलिज्म का सिद्धान्त स्थापित किया गया। कहा गया है कि जीवन में प्राप्त होने वाली अनुभूतियाँ और सौन्दर्यानुभूति ये दो चीजें अलग अलग हैं। बाह्यत स्पष्ट-सी दीखने वाली इस बात के पीछे एक स्पष्ट अस्पष्ट राजनैतिक उद्देश्य था। वह यह कि कवि का काव्य-जीवन और वास्तविक जीवन इन दो में अविच्छिन्नता और मौलिक एकता को धुंधला कर दिया जाय। यह सिद्धान्त एक बहुत ही खतरनाक मान्यता है। नई कविता के युग में शीत युद्ध चलाने वाले नीति नियामकों का वह एक सोद्देश्य मानसिक विक्षेप है।

इसकी चर्चा आगे होगी। ध्यान में रखने की बात केवल इतनी ही है कि उक्त सिद्धान्त नई कविता किसी जीवन दृष्टि की या दार्शनिक व्यवस्था की ही—साहित्य के क्षेत्र में—विकसित होती हुई दीर्घ होती हुई प्रलम्बित शाखा होती है। यही कारण है कि कला सम्बन्धी धारणाओं को मूल जीवन दृष्टि से सुविधा के लिए भले ही अलग रखा जाय वे इससे सर्वथा विच्छिन्न नहीं होतीं। ध्यान में रखने की बात है कि भारतीय साहित्य चिन्तन में काव्य सौन्दर्य के सम्बन्ध में विस्तृत और वैविध्यपूर्ण चर्चा है। किन्तु नई कविता ने पतृक सम्पत्ति भी नहीं ली है।

किसी भी दार्शनिक ज्ञान व्यवस्था से अनुप्राणित या आधारित जो भाव दृष्टि होती है उसकी अपनी सीमा और क्षमता भी रहती है। जब तक लेखक स्वयं उस बात से चेतन न हो वह बहुत गड़बड़ कर सकता है। उदाहरणतः यह आवश्यक है कि मनुष्य को, सम्पूर्णतः काव्य विषय बनाया जाय न कि एक व्यक्ति का इधर या उधर झुकाव हो अथवा वह इस विचार व्यवस्था या उस विचार व्यवस्था को पूर्णतः मान ले। किन्तु नई कविता की अपनी विशेष कोई दार्शनिक धारा या विचार धारा नहीं रही। वह तरह तरह के झुकावों दृष्टियों और विचारों का एक ढेर बन गयी। संक्षेप में नई कविता के पास अपनी कोई विशिष्ट दार्शनिक धारा या विचार धारा नहीं है। लगभग सभी कवियों में विकसित विश्व दृष्टि का भाव है सांगोपांग विचार धारा का अभाव है। अगर किसी में कोई विश्व दृष्टि है भी तो वह ऐसी स्थिति में है कि वह उसकी भाव दृष्टि का अनुशासन प्रायः नहीं कर सकती।

क्या यह वांछनीय है? इस प्रश्न का उत्तर अपने अपने झुकावों के अनुसार अलग अलग तरह से दिया जायगा। मेरे अपने मतानुसार यह अच्छा नहीं हुआ। अच्छा नहीं है हानि प्रद है साहित्य के लिए देश के लिए स्वयं कवियों के अपने अन्तर्जीवन के लिए भी। आज बहुत-से कवियों के अन्तःकरण में जो बची जो ग्लानि या अवसाद जो विरक्ति है उसका एक कारण (अन्य कई कारण हैं) ऐसी विश्व-दृष्टि का अभाव है जो उन्हें आभ्यन्तर आत्मिक शक्ति और मनोबल प्रदान कर सके तथा उसकी पीड़ा-जन्य अगतिकता को दूर कर सके।

कहा जायगा कि नई कविता वस्तुतः एक नई तान है नया काव्य प्रकार है और उसमें विभिन्न विश्व-दृष्टियों या विचार धाराओं को स्थान प्राप्त है। और यह कि यदि कोई विचार धाराएँ उसमें नहीं आ पातीं तो इसका कारण यह है कि समाज ने उन विचार धाराओं के लिए फिलहाल कोई उपजाऊ ज़मीन तैयार नहीं की है।

इस सम्बन्ध में स्पष्ट यह निवेदन है कि नई कविता के क्षेत्र में काम करने वाले कवियों द्वारा किसी ऐसी विश्व-दृष्टि के विकास के प्रयत्न नहीं देखे गये

(या वे प्रयत्न इतने प्रधान नहीं हुए कि सबका ध्यान अपनी ओर खींच सकें) जो उसकी भाव दृष्टि का अनुशासन कर सकें, और उस भाव दृष्टि में किसी प्रकार से उसकी विश्व-दृष्टि प्रतिच्छवित हो सके।

यह भी कहा जा सकता है कि लेखक-कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह समग्रतायुक्त किसी विश्व दृष्टि का विकास करे, यह काम दार्शनिकों, चिंतकों तथा अन्य विचारकों का हो सकता है, लेखक कलाकार का नहीं। इसी सिलसिले में ऐसे साहित्य युगों की ओर संकेत किया जा सकता है जबकि किसी दार्शनिक धारा को लेखक-कलाकार ने अपनी कला का आधार नहीं बनाया नहीं बनाया,—जैसे हिन्दी का रीति कालीन साहित्य, कहिए वीरगाथा काल। अन्य देशों के साहित्य-युगों में भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। संक्षेप में कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह कोई दार्शनिक आधार ग्रहण करे। और, सच मुच यदि हम दार्शनिक आधार का बहुत संकुचित अर्थ स्वीकार करें तो कलाकार के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह बँधे-बँधाये वैचारिक ढाँचे को अपनी कला की श्रेष्ठता उपस्थित करने के लिए, यान्त्रिक रूप से स्वीकार करे। यह सब सही है।

फिर भी ऐसे लेखक कलाकार हो गए हैं जिन्होंने व्यक्तिगत सामाजिक राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में, एक कलाकार की हैसियत से, सोचा विचारा है। चेतना की समृद्धि और विस्तार श्रेष्ठ कला का एक लक्षण है। और जब तक मानव-समस्याएँ हल नहीं होतीं, चाहे वे किसी भी क्षेत्र और स्तर की क्यों न हों तब तक मानव सवेदनापूर्ण कलात्मक चेतना का यह धर्म है कि वह उन पर सोचे विचारे और अपनी दृष्टि को कलात्मक रूप से प्रस्तुत करे।

एक बात और भी है। किसी भी कलाकृति में लेखक की जीवन-दृष्टि अवश्य प्रकट होती है। भले ही लेखक जाने या न जाने यही जीवन-दृष्टि के भीतर और उसके आसपास जीवन जगत सम्बन्धी तरह-तरह की धारणाएँ और विचार होते हैं। यह भी एक तरह की विचार धारा ही है जिसे हम पूर्णतः सुसम्बद्ध सुसंगत वैचारिक व्यवस्था भले ही न कहें।

उस युग में उस काल विशेष में जबकि मानव-समस्याएँ अधिकाधिक एकत्रित और विकसित होती जाती हैं यह स्वाभाविक ही है कि लेखक-कलाकार उनसे प्रभावित हो और उन्हें अपनी कलात्मक चेतना के विषय बनाये। अगर, वह किसी कारण से—जैसे राजनैतिक कारणों से—उन समस्याओं के स्वाभाविक तर्क-संगत समाधानों को स्पष्टतः और पूर्णतः प्रकट नहीं कर पाता, अथवा उन समस्याओं की वास्तविक रूपाकृतियों को स्पष्टतः और पूर्णतः प्रकट करना अपने लिए खतरनाक समझता है तो वैसी स्थिति में वह उन्हीं समस्याओं में

प्रतिबिम्बन को बदलकर सिर्फ इशारेबाजी से उन्हें बताता-समझाता हुआ आगे बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में, किसी न किसी प्रकार से, वह उन्हें प्रत्यक्षतः या परोक्षतः सूचित अवश्य कर देता है, और उनके आधार पर एक मानव-कथा या सांकेतिक मनोवृत्तान्त उपस्थित कर देता है। किन्तु भारत में ऐसी कोई स्थिति नहीं है कि हमारे कवि कलाकार उन मानव-समस्याओं से जी चुराएँ। और, उनको इस प्रकार उपस्थित करें मानो वे हैं ही नहीं और यदि हैं भी तो केवल कलाकार की अपनी निजी किसी मनोग्रंथि या व्यक्तिगत समस्या के रूप में। कम से कम प्रस्तुत समय में भारत में ऐसी कोई भयानक बाधा नहीं है जो लेखक को अपने पूर्ण और मूर्त आत्म प्रकटीकरण अथवा जीवन चित्रण से रोके।

तो फिर वह कौन सी चीज है जो कवि कलाकार को अपने ही क्या न सही मूर्त और साक्षात् जीवन के चित्रण और पूर्ण आत्म प्रकटीकरण से रोकती है? क्या मैं यह कहूँ कि उनमें प्रतिभा का अभाव है!! मैं जानता हूँ कि ऐसी चीज नहीं है, हरगिज नहीं है। फिर क्या बात है!!

मेरे मत से उसका उत्तर उन विचार-सरणियों में मिलेगा जो नई कविता के आसपास फैली हुई हैं और उसको घेरे हुए हैं। फिर भी मुझसे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आखिर आज यह सवाल उठाने की जरूरत ही क्या पड़ गई!!

तो इसका उत्तर यह है कि नई कविता उस प्रकार का छायावादी टाइप की रोमैंटिक स्वप्नशीलता की एकान्त प्रिय आत्म रतिमय आध्यात्मिकता की कविता नहीं है जैसी कि पुराने रोमैंटिक युग की हुआ करती थी। यह नूतन उग्र परिस्थिति के भीतर पलते हुए मानव हृदय की [illegible] जिज्ञासा की कविता है। इसलिए उसमें कहीं आत्मग्लानि है तो कहीं बाह्य स्थिति-परिस्थिति और समाज पर व्यंग्य है तो कहीं आन्तरिक विवशता से उत्पन्न करुणा भाव है तो कहीं [illegible] है, कहीं वक्तव्य जनित विषाद है तो कहीं जीवन आलोचना है। इतना तक कि उसमें कहीं रोमैंटिक रंग है कहीं भी एक व्यक्ति स्थिति-परिस्थिति का स्वीकार है या उभार है। यह [illegible] जिज्ञासा इतनी तक बढ़ गई है कि उसने कविता के उस [illegible] के लिए [illegible] अभिव्यक्ति-प्रणाली और प्रतीक-योजना भी [illegible] है यहाँ तक कि [illegible] एक कवि की दूसरे कवि की कविता [illegible] में नहीं आती। अजी! यह समस्त जिज्ञासा यहाँ तक बढ़ चुकी है कि [illegible] बनकर [illegible] है, यह है कि कविता एक-दूसरे की [illegible] समझ नहीं पाते। [illegible] कविता के [illegible] जो अनुभव हुए हैं उनके आधार पर मैं इन बातों को कह रहा हूँ।

अब इन पंक्तियों के [illegible] उन समस्त जिज्ञासाओं

वैयक्तिक स्थिति परिस्थितियों का सामान्यीकरण करते हुए आत्म स्थिति और व्यक्ति स्थिति से हटकर मानव-समस्या के रूप में उन्हें देखना क्या कलात्मक चेतना का धर्म नहीं होना चाहिए ? आज जो प्राप्त मानव सम्बन्धों का ताना बाना है उसका अवलोकन निरीक्षण अध्ययन तथा उससे उचित निष्कर्षों की प्राप्ति के प्रयत्न, कलात्मक चेतना के बाहर की कोई चीज होनी चाहिए ! ! क्या कलात्मक चेतना का विस्तार वहां तक नहीं हो सकता ! ! कलात्मक चेतना के विस्तार के प्रति यह अरुचि क्यों ?

इसका उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि जहां तक जीवन को तटगत (वस्तुपरक) दृष्टि से देखकर उसके अध्ययन का प्रश्न है वह काम शास्त्रों का है न कि कलाकार का। अतएव, कलाकार से कभी बातें कहना उसके व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में बाधा डालना है। कलाकार का काम तो केवल आत्माभिव्यक्ति करना है।

किन्तु प्रश्न यह है कि इतर जनों को यह अधिकार क्यों न हो कि वे यह जानें कि कलाकार की वह आत्मा, जिसकी वह अभिव्यक्ति कर रहा है, कैसी है ! ! हीन और क्षुद्र है या श्रेष्ठ और उदात्त, ज्ञान-दीप्त है या अज्ञान ग्रस्त ! ! वस्तुतः वह कवि जीवन-संवेदनशील है या जीवन के स्थान पर उसने किसी झूठी स्वप्न प्रतिमा को खड़ा करके काम से छुट्टी पाई है ! ! आदि आदि प्रश्न उठते हैं। क्या ऐसे सवाल उठाना स्वाभाविक नहीं है ! !

यदि कवि-कलाकार किसी शास्त्रीय पुस्तक के पास न भी पहुँचे तब भी, मनुष्य होने के नाते वह समस्याओं के प्रति संवेदनशील अवश्य होता है। यह सही है कि कोई लेखक-कलाकार अधिक संवेदनशील होता है तो कोई कम संवेदनशील होता है अथवा किसी की संवेदना का विस्तार संक्षिप्त तो किसी का व्यापक होता है। फिर भी, यह कहना कि वह मानव समस्या के प्रति संवेदनशील नहीं है मुझे अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। बातचीत के दौरान में प्रकट किये गए इस बयान से तो मैं सहमत हूँ कि हिन्दी का कवि साधारणतः एक पिछड़ा हुआ प्राणी है। किन्तु क्या वह इतना पिछड़ा हुआ है कि उसे साहित्य का आदिवासी कहा जाय ! ! मेरे ख्याल से ऐसा कहना कवियों का अपमान है। किन्तु यदि वह उन समस्याओं के प्रति संवेदनशील है तो वह उनका चित्रण इस प्रकार क्यों नहीं कर पाता कि जिसमें वह एक मानव-समस्या के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत हो। मानव-समस्या जब भी हमारे हृदय को स्पर्श करती है तब हम लगता है कि वह अपने पूरे तानेबाने के साथ उपस्थित हो रही है। तो वह समस्या उसके तानेबाने उसकी पीड़ा इन तीनों का समग्र एकीभूत संवेदनात्मक अंकन क्यों नहीं हो पाता ? यह ठीक है कि एक ही मानव-समस्या को भिन्न कलाकार भिन्न रूप से ग्रहण करेंगे या समझेंगे अथवा उनके सम्बन्ध में हमारा संवेदनात्मक ज्ञान तीव्र होते हुए

उपजा हो सकता है, किन्तु प्रश्न यह है कि हमारी व्यक्ति-समस्या, मन की निविड़ पीड़ा एक मानव समस्या के रूप में गृहीत और चित्रित क्यों नहीं हो पाती ।

मेरे खयाल से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। व्यापक मानव-जीवन तक पहुँचने के लिए यह सिर्फ पहला कदम, पहली सीढ़ी है।

व्यक्ति-समस्या को मानव समस्या बनाकर तभी प्रस्तुत किया जा सकता है जब हम उस समस्या से पूर्ण तटस्थ हों और फिर उसमें भीगें रमें और इस प्रकार उन सारे तान-बान को देखें जिससे मानव-जीवन बना हुआ है अपनी स्थिति में और विकास में। संक्षेप में हमें केवल तथाकथित सौन्दर्यानुभूति के क्षणों के बाहर जाना होगा, और भाव का आधार बनने वाले ज्ञान का विस्तार करना होगा। केवल एक क्षण के उत्कर्ष का चित्रण करने के बजाय हम लम्बी नजर फेंकनी होगी और वह सारा तानाबाना अंकित करना होगा जिससे वह समस्या एक विशेष काल और परिस्थिति में विशेष रंग और रूप में विकसित और प्रतिफलित हुई है। यह सब काम तथाकथित सौन्दर्यानुभूति के बाहर का काम है। और यदि यह काम सौन्दर्यानुभूति के बाहर का काम है इसलिए यह समझा जाता है कि वह सौन्दर्यानुभूति के क्षणों के लिए या कलात्मक ज्ञान की परिवृद्धि और विकास के लिए यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। और यदि है भी तो उससे उसका कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। वह जैसी है वैसी ही रहेगी।

सच बात तो यह है कि इस प्रकार के सुझावों और निष्कर्षों के पीछे कला सम्बन्धी कुछ धारणाएँ और विचार-सरणियाँ काम कर रही हैं। ये धारणाएँ और विचार-सरणियाँ इस काल में अतिशय प्रबल रहीं और प्रसारित हुईं [illegible]।

कुछ भिन्न है। अमरीकी साहित्य की अधिकांश प्रेरणाएँ प्रगतिशील हैं, यथार्थवादी हैं। ऐसी ही श्रेष्ठ परम्पराएँ पश्चिमी यूरोप में भी हैं। किन्तु शीतयुद्ध के नीति नियामकों ने उनसे अपनी प्रेरणा ग्रहण नहीं की वरन् साम्यवाद विरोध को अपना प्रधान धर्म मानते हुए (उन दिनों डलेस का जोर था भारत में भी डलेस वादियों की आज भी कमी नहीं है) वे नीति नियामक ऐसे सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे जो घोषित रूप से थे तो साहित्य-सौन्दर्य कला-सौन्दर्य के सम्बन्ध में, किन्तु उनका उद्देश्य अधिक व्यापक था। चूँकि प्रगतिवाद, अपने अन्तर्बाह्य कारणों से, विशृंखल हो गया था, साथ ही वह जिस रूप में हिन्दी क्षेत्र में था वह अपरिपक्व ही कहा जा सकता है इसलिए उसका प्रभाव क्षीणतर होता गया। उस पुराने अपरिपक्व प्रगतिवाद ने अपने हठ के कारण नई कविता का सब तरह से विरोध किया, इसलिए उसे मार खानी पड़ी। इस शीत-युद्ध के समय प्रचलित सिद्धान्तों की छाप अभी भी नई कविता पर है यह भूलना नहीं चाहिए।

ध्यान में रखने की बात है कि एक कला सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन दृष्टि होती है उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है और उस जीवन-दर्शन के पीछे आजकल के जमाने में एक राजनतिक दृष्टि भी लगी रहती है। निःसन्देह, नई कविता की एक फिनॉमिनी के रूप में, कला सिद्धान्त लाया गया। कला सिद्धान्त के पीछे सामाजिक-साहित्यिक मनोवृत्तियों का विश्लेषण करनेवाला 'आधुनिक भाव-बोध' का सिद्धान्त आया और 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के नाम पर एक सामाजिक राजनतिक दर्शन भी प्रस्तुत हुआ। और ये सब नई कविता के समर्थन और विस्तार में ही आए। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।)

यूरोप में काव्य-सौन्दर्य का ऊहापोह करने वाले सिद्धान्तों का एक जंगल का जंगल खड़ा हुआ है। ध्यान में रखने की मुख्य बात यह है कि न केवल यह सिद्धान्त परस्पर भिन्न होते हैं वे सिद्धान्त रूप में भी अस्थायी होते हैं। साहित्य सिद्धान्त के क्षेत्र में सौन्दर्य-तत्त्व का विश्लेषण करने वाली मिजरीज के मृतावशेष इधर उधर फैले पड़े हैं। मुख्य बात यह है कि ये सौन्दर्य सिद्धान्त किसी विशेष कला-प्रवृत्ति की औचित्य स्थापना के लिए किसी जीवन-दृष्टि के (जो कला में प्रकट होती है) समर्थन के लिए लाए जाते हैं। और वह काव्य प्रवृत्ति नष्ट होते ही या उसमें नये तत्त्वों का समावेश होते ही, उन कला सिद्धान्तों में धीरे धीरे परिवर्तन होने लगता है। प्रगतिवादियों के विषय एक थे, दृष्टि एक थी वैसे ही उनकी पटन भी थी। नया विषय, नई दृष्टि और नये पटन के लिए नया कला सिद्धान्त लाया गया। किन्तु चूँकि उस कला सिद्धान्त के पीछे पश्चिम का उज्ज्वल मानवतावाद न होकर उसी पश्चिम का अत्यन्त संकुचित व्यक्तिवाद था इसलिए इस नये कला सिद्धान्त में भी वह संकुचित जीवन-दृष्टि प्रकट हुई और इस संकुचित व्यक्तिवाद में, शीत युद्ध के उद्देश्य छिपे हुए थे।

यह नया कला सिद्धान्त मुख्यतः जीवनानुभव और सौन्दर्यानुभूति को समानान्तर माना है। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में ही किसी अन्तर्वाह्य आवेगों से मन का द्रवण होकर जब वह उन्नयन प्राप्त करता है तब यह कहा जाएगा कि यह सौन्दर्यानुभव का क्षण है। इसलिए कलाकार से यह अनुरोध नहीं किया जा सकता कि तू ऐसा लिख वैसा लिख तभी कला होगी। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में जिस प्रकार उसका मन द्रवित होकर आत्मप्रकटीकरण करना चाहेगा करेगा। उसका काम तो सिर्फ आत्मप्रकटीकरण और सुन्दर आकृतियों का निर्माण करना है। ध्यान रहे कि प्रगतिवादी मज्जन कलाकारों से इस प्रकार के अनुरोध करते थे। यह उनकी तानाशाही मनोवृत्ति थी। इस प्रकार वे रेजीमेन्टेशन करना चाहते थे। कलाकार को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह मन चाही चीज़ लिखे। यदि पाठकों को अच्छी लगे तो ठीक न अच्छी लगे तो ठीक। यदि इस प्रकार के क्षणों में कोई मूल्यवान अनुभव प्रथित हुआ और उसकी अभिव्यक्ति सुन्दर हुई तो निःसन्देह वह मानवतावाद की स्थायी निधि में स्थान पायेगा। यदि आज नई कविता लोकप्रिय नहीं है तो जनता में उसकी अभिरुचि बढ़ाई जा सकती है प्रचार और प्रशिक्षण द्वारा।

संक्षेप में तरह-तरह के विचार प्रकट किये गए। उनमें मुख्य बात यह बताई गई कि जीवनानुभवों का स्तर और सौन्दर्यानुभवों का स्तर परस्पर भिन्न है। सौन्दर्यानुभवों की स्वतन्त्र नियमाणता स्वतन्त्र गति है। इसलिए उस पर किसी भी प्रकार के बाह्यानुरोध नहीं लादे जा सकते। कलाकार की हैसियत से सिर्फ सौन्दर्यानुभवों के क्षण की परिसीमा के भीतर रहकर उसका चित्रण करना है अर्थात् कलाकार की हैसियत कलात्मक क्षण के अनुभवन और चित्रण तक ही मर्यादित है। शेष काम वह एक नागरिक की हैसियत से या ज्ञान पिपासु बुद्धिवादी की हैसियत से चाहे तो कर सकता है। यह उन नीति नियामकों की भूमिका थी।

इस भूमिका के पीछे सामाजिक राजनैतिक उद्देश्य थे। पहला तो यह था कि लेखक कलाकार को वास्तविक जीवन के स्पर्श से बचाया जाए जिससे कि वह वास्तविक जीवन को अपनी कलात्मक चेतना के अन्तर्भूत न कर सके। क्योंकि उसने ऐसा वस्तुतः किया तो निःसन्देह होगा कि वास्तविक यह जीवन की तरह तरह की विषमताएं सामने आएंगी और उनका चित्रण करते हुए वह वामपन्थी मनोवृत्तियों का भी चित्रण कर सकता है। उन नीति नियामकों का मुख्य उद्देश्य तो उन वामपन्थी मनोवृत्तियों से युद्ध करना था। यही कारण है कि उन्हीं के काव्य शत्रु के अन्तर्गत बहुत से रचनाकारों ने जब अपनी किन्हीं कृतियों में वामपन्थी मनोवृत्तियाँ प्रकट कीं तो उनकी वे कृतियाँ उन नीति नियामकों और उनके अनुसरण-कर्ताओं के लिए असुन्दर हो गईं।

किन्तु इसके विपरीत यह भी स्पष्ट है कि कलाकार को जीवन के स्पर्श से बचाया नहीं जा सकता, इसलिए यह आवश्यक है कि कलाकार को एसी भूमिका प्रदान की जाए जिसमे वह उन मनोवृत्तियों के पंजे म न आय। 'आधुनिक भाव बोध' तथा लघु मानव' आदि सिद्धान्त इसी आवश्यकता से उत्पन्न हैं। यह तो स्पष्ट है कि इस 'आधुनिक भाव-बोध' म उन उत्पीडनकारी शक्तियों का बोध शामिल नहीं है जिन्हें हम शोषण कहते हैं पूंजीवाद कहते हैं साम्राज्यवाद कहते हैं तथा उन संघर्षकारी शक्तियों का बोध भी शामिल नहीं है जिन्हें हम जनता कहते हैं शोषित वर्ग कहते है। यहाँ तक कि इस आधुनिक भाव-बोध म उस देश निर्माण का स्वप्न भी नहीं है जिसके अन्तर्गत हमारे यहाँ औद्योगीकरण हो रहा है, न उस देश निर्माण का जबकि गरीब-अमीर रहेंगे ही नहीं।

संक्षेप म, भारत की शिक्षित मध्यवर्गीय जनता मे जो भाव-संवेदनाएँ प्रगतिशील राजनैतिक अर्थ रखती हैं उनका 'आधुनिक भाव-बोध' म कोई स्थान नहीं है। हम तो केवल 'लघु मानव' हैं, साधारण जनता नहीं। साधारण जनता म विश्व-परिवर्तन की अदम्य क्रान्तिकारी शक्ति होती है। लेकिन उन नीति-नियामकों के लेखे, वह भीड की अन्धी ताकत है। वास्तविक चेतना तो व्यक्ति के अपने आभ्यन्तर की समृद्धि है। तो इसलिए व्यक्तित्व की इकाई महत्त्वपूर्ण है। यह इकाई लघु मानव है, क्योंकि अब यह इकाई महान् आदर्शों के उच्चतर स्तर की प्राप्ति के पीडाजनक भीषण प्रयत्नो म सलग्न नहीं है न हो सकती है। महान् आत्माओ महान् प्रतिभाशालियो महामानवो का युग गया। अब हम जन साधारण भी नहीं केवल लघु मानव है, क्योंकि हम जन-साधारण हो जाएँ तो वामपंथी मनोवृत्तियो के शिकार होकर भीड की अन्धी ताकत बनते हुए अपनी व्यक्तिगत इयत्ता को खो देंगे। इसलिए हम जनसाधारण से लघु मानव बन जाना चाहिए।

हम पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एक पुनीत सिद्धान्त है, (चाहे उसम लूट-खसोट अनाचार भ्रष्टाचार स्वार्थ चरित्र-हीनता धन का प्रभुत्व, शोषण क्या न चलता हो) यदि समाज म बुराइयाँ हैं तो धीरे धीरे ही दूर होंगी। लोग हैं कि जो अपने लघुत्व के कारण इस स्वातन्त्र्य से डरते है। वे कलाकार हीन हैं जो बाह्यानुरोध स्वीकार करते हैं। मनुष्य की परम चेतना अन्तरात्मा पर जोर डालने वाली यह साम्यवादी पार्टी रजीमेण्टशन करती है। वह साहित्य का भी रेजीमेण्टशन करना चाहती है। वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विरुद्ध अधिनायकत्व के सिद्धान्त म विश्वास रखती है। साम्यवाद का विरोध एक पवित्र धर्म है। ये कुछ बुद्धिजीवी और वह कुछ जनता इतनी बेवकूफ है कि उनके बहकावे म आ जाती है। वह विदेशी प्रभाव भारत म लाती है लोगों के दिमागो को गुलाम बना लेती है (पश्चिमी प्रभाव भारतीय प्रभाव है अमरीकी नीति

नियमत वस्तुत भारतीय है। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद भारत का शत्रु है अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद और साम्यवाद भारत का अपना सगा भाई है।)

यह एक स्पष्ट तथ्य है कि हमारे अधिकांश कवि इस राजनीति के चक्कर में नहीं हैं। मेरा उद्देश्य तो केवल यही दरशाना था कि इस प्रकार एक नया सिद्धांत के साथ एक समाज-नीति और राजनीति लगी हुई है। किंतु आज की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि यद्यपि इस राजनैतिक विचारधारा का कोई विशेष प्रभाव हम पर नहीं है, फिर भी काव्य-सौन्दर्य सम्बन्धी वस्तु-सी धारणाओं का हम पर अवश्य प्रभाव है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम उनकी जाँच करें।

प्रयोगवाद

तथाकथित प्रयोगवाद की कोई विशेष व्याख्या नहीं की जा सकती साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में ही उसे देखा जा सकता है। यह निश्चित है कि प्रारम्भिक रूप में प्रयोगवादी कविताएँ तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के विरुद्ध व्यक्ति द्वारा की गई भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं। किन्तु अब व्यक्ति छायावादी नहीं उसमें अब बौद्धिकता आ गई है वह जो देखता है उस पर सोचना चाहता है जो अनुभव करता है वह लिखना चाहता है। उच्च सामाजिक श्रेणियों और वर्गों में वह Have not में से है Haves में से नहीं। जिस बात पर वह सोचना चाहता है जिस स्थिति पर सोचने के लिए उसे मजबूर होना पड़ता है उसके प्रति उसका दृष्टिकोण घनघोर व्यक्तिवादी स्थिति से लगाकर तो अविकसित मार्क्सवादी स्थिति से लगाकर फैला हुआ है। समाज उसका गला दबाता है उसका अपना वर्ग भी उसकी आवाज को कुण्ठित करता है। समाज में पुरानापन है दकियानूसी है जड़ता है और कुचलने की शक्ति है व्यक्ति इसमें विद्रोह करता है परन्तु विद्रोह करने का तरीका उसे नहीं मालूम। इसलिए मात्र भावनात्मक विस्फोट करके वह रह जाता है। बौद्धिक लक्ष्यानुगामी होने के कारण, उसके विद्रोह में प्रगतिवादी फूत्कार नहीं आ पाते। वह कला-तत्त्व से अधिक सचेतन है किन्तु अपने उग्र और दमित भावना मण्डल की यथातथ्यता को प्रकट करने के लिए उसके पास केवल छायावादी शब्दावली है जिसका प्रयोग वह नहीं चाहता। उसके अनुसार छायावादी शब्द छायावादी भाव को ही प्रकट करते हैं। वे नए मनोवैज्ञानिक यथार्थ को प्रकट नहीं करते। इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि कविता को वैचारिक गद्य का जामा पहनाया जाने लगा। समाज से सामंजस्य के अभाव के फलस्वरूप तथा उसके विरुद्ध उसमें प्रखर बौद्धिक व्यक्तिवाद का विकास हुआ कुछ लोगों में अन्तर्मुखी चेतना उन्नत हुई तो कुछ में बहिर्मुखी। चेतना अधिक यथार्थोन्मुख हुई चाहे वह अन्तर्मुखी हो या बहिर्मुखी। कुछ में बाह्य चित्र प्रधान हुए कुछ में अन्तश्चित्र। यह स्वाभाविक ही था कि इस क्षेत्र के कुछ लोग आगे चलकर मार्क्सवादी होते। नवीन यथार्थोन्मुख (यथार्थ से मतलब हमेशा

वास्त्री यथार्थ ही नहीं होता) प्रतीक उपमाएँ गमाने आदि। पिसी पिसाई शब्दावली का त्याग हुआ।

किन्तु शिक्षित समाज की अभिरुचि छायावादी ही थी। उनके लिए पीड़ा का अर्थ रोमांटिक या आध्यात्मिक ही था। यह स्वाभाविक ही था कि उन्हें ये कविताएँ पसन्द न आतीं। आगे चलकर ये ही छायावादी लेखक और उनके समर्थक स्वाधीनता के उपरान्त साहित्य तथा समाज के प्रभावशाली पदों और स्थानों पर जा पहुँचे। उन्होंने पर्याप्त रूप से ऐसा वातावरण घनीभूत किया जिसमें इस नवीन प्रवृत्ति का कण्ठ रोध हो। किन्तु प्रयोगवादी प्रवृत्ति ऐतिहासिक कारणों से ही उत्पन्न हुई थी उसी से उसका विकास भी हुआ और हो रहा है। इसलिए वह सामयिक विरोधों से दब नहीं सकती थी। दूसरे तार-सप्तक के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी का विद्वान मण्डली का ध्यान इसकी ओर गया और तब से प्रयोगवाद चर्चा का विषय बना हुआ है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि पहले तारसप्तक और दूसरे सप्तक में स्थिति तथा व्यक्ति का बहुत बड़ा भेद है। दूसरे सप्तकवालों को अच्छी परिस्थितियाँ मिली थीं। साथ ही तब तक पहले सप्तक वाले भी काफी आगे बढ़ चुके थे। इसलिए जिन प्रश्नों को लेकर पहले सप्तक वाले आगे बढ़े उन प्रश्नों को लेकर दूसरे सप्तक वाले नहीं। पहले सप्तक वालों की रोमांस भावना की आयु बहुत अंशों में, छायावाद में ही बीत चुकी थी। वे अपनी छायावादी अवधि पार कर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करते हुए प्रयोगवादी थे। तो दूसरे सप्तक वाले अपनी नवीन रोमैंटिक भावनाएँ लेकर प्रयोगवाद में आए। पहले सप्तक और दूसरे सप्तक में यह एक मौलिक भेद है। व्यक्ति के विकास की दृष्टि से पहला तार सप्तक अधिक मजबूत है दूसरा सप्तक रोमैंटिक परिधान की दृष्टि से अधिक मनोरम। रोमैंटिक भावनाएँ जीवन की यथार्थता हैं। मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टि से वे अतएव प्रयोगवाद के लिए निषिद्ध नहीं ठहरतीं, बशर्ते कि उनकी ओर लेखक की दृष्टि कुहरिल न हो।

कोई भी नई साहित्यिक प्रवृत्ति अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अनगढ़ होती ही है। किन्तु हिन्दी में केवल उसके कमजोर उदाहरणों को लेकर ही उस पर आक्रमण किया गया। उसकी शक्ति नहीं परखी गई। यह इस बात का सबूत है कि वर्तमान आलोचक जिनमें प्रगतिवादी और छायावादी शामिल हैं जीवन के नए मोड़ों की साहित्यिक अभिव्यक्ति का आकलन नहीं कर सकते न्याय की बात ही नहीं उठती।

हमें साहित्यिक मापजोख दो दृष्टियों से करनी चाहिए, एक—रूप की दृष्टि से दूसरे—वस्तुतत्त्व की दृष्टि से। वस्तुतत्त्व में इतनी शक्ति होती है कि वह स्वयं अपने रूप को लेकर आता है। अतएव मुख्यतः हमारे लिए वस्तुतत्त्व प्रधान हो

जाता है। प्रश्न यह है कि क्या प्रयोगवाद का आज तक का विकास ऐसा है कि जो हमारी जनता के मुख्य लक्ष्यों को अग्रसर कर सके? अथवा, क्या उससे यह आशा हो सकती है? मेरा अपना मत यह है कि अभी तक प्रयोगवादी कवियों में वह विशाल चेतना नहीं आ पाई है जिसे हम महत्त्व देते हैं। कुछ कवि तो मात्र मानसिक प्रत्याघातों का चित्रण करके ही चुप रह जाते हैं। अन्यों ने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए हैं। इनको देखकर यह आशा होती है कि आगे चलकर नये कवि अपने विशाल उत्तरदायित्व का निर्वाह अधिक सफलतापूर्वक कर सकेंगे।

आधुनिक हिन्दी कविता मे यथार्थ

हिन्दी जिस रफ्तार से दिन दिन आगे बढ़ती जा रही है उसका साहित्य जिस गति के साथ विकसित हो रहा है उसको देखते हुए हमें कहना पड़ता है कि आधुनिक काव्य-काल बहुत दिनों तक रहेगा, क्योंकि वह मानवी जीवन के ऐसे ऐसे अमर तत्त्वों से सजीवित हो उठा है जो हमें नित्य उनके प्रति (उन तत्त्व के प्रति) सत्यनिष्ठ और श्रद्धायुक्त बनाये रखता है। हम जीवन के प्रति अधिकाधिक प्रामाणिक होते जा रहे हैं। हमारी कल्पना हमें नीलगगन के अथाह शून्य में भटकाती नहीं वरन् जीवन को उसके यथार्थ स्वरूप में ग्रहण कराते हुए उस ओर उठा ले जाती है।

एक दृष्टि से देखा जाय तो प्रसाद पन्त-महादेवी का काल समाप्त हो चुका है। उनकी कल्पनाशक्ति और भावनाओं की गूढ़ात्मा इत्यादि बातें मेरे ख्याल से पुरानी हो गई हैं।

गुप्तजी अब शान्त हैं और पुराने ढर्रे के कवि प्राचीन हो चुके हैं। आजकल हमें ऐसे कवियों की जरूरत महसूस होती है जो मानवी जीवन की एकता के साथ ही उसके वैविध्य से भी अत्यन्त निकटता में परिचित हों जो कवित्व को हवा में उड़ाकर अम्बर एकता के आकाश में मुक्त न फिरें, किन्तु वैविध्य के संघातात्मक समग्रता से उत्पन्न मानवी मनोभावों की उत्कटता में अपने को लीन करते हुए उसी एकता के दर्शन करावें, अर्थात् वह मानवता के अधिक निकट रहें।

पन्त प्रसाद महादेवी का सौन्दर्य-दर्शन और उनकी सूक्ष्मता तत्कालीन ब्रज भाषा की स्थूल सौन्दर्य-गत कविता की इष्ट प्रतिक्रिया थी। भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण के प्रभाव से हिन्दी कविता नवीन शब्दावली में व्यक्तीकरण के नये ढंग के साथ प्राचीन दार्शनिक आदर्श को नवोत्फुल्ल सौन्दर्य-दृष्टि से पहचानते हुए अधिक आन्तरिक होकर आधुनिक हो गई थी।

किन्तु फिर भी वह अपने को प्राचीन से मुक्त न कर सकी। वह अधिक स्वप्नशील थी और नीहारवत् चरम सत्य के पीछे स्वयं नीहारमय हो

गई थी। जीवन की यथाथता से स्वतन्त्र होकर, एकात म कला-साधक होकर विश्व के साथ तन्मयत्व प्राप्त करना ही कवियो का आदश हो गया। मानवी जीवन की ओर उनकी पहुँच कल्पना द्वारा होन मे उनके कल्याण की तडप के अभाव म, उन्होने प्राचीन दाशनिक आदश की सहायता लेकर कविता की। अलौकिक की ओर उनकी कल्पना का प्रयास लौकिक की उपेक्षा पर खडा था।

अथात समय की आवाज उनके काना पर न पहुँची। हिन्दुस्तान की विस्तरणशील आत्मा को बुलाकर अपना एकाकी माग तय करना उन्हान अपना धम समझा और अपन Superior ego की माया म स्वय का जगत् से अलग रखा।

मानवी मस्तिष्क की गति प्रतिक्रियाशील ह। छायावादी धूमिलता और जीवन का ओर कल्पना द्वारा पहुँच की भी प्रतिक्रिया शुरू हुई। फलस्वरूप 'नवीन', 'नेपाली' 'बच्चन', 'दिनकर' 'अनेय' इत्यादि कवि एक पक्ति म खडे हैं। नये कुछ एक जस प्रभाकर माचवे वगरह, अपनी निश्चित दिशा लिय धीरे धीरे श्रेणी म आ रह हैं।

'नवीन' नय और पुरान दोना हैं। किन्तु उनकी कविता की आत्मा की गति अत्याधुनिक ही ह। उनके प्रेम-गीत धूमिल क्षितिज गीत की दूरागत अस्पष्टता स अलग हैं। जीवन के प्रति उनकी पहुँच अधिक मूत है अर्थात कल्पना द्वारा प्रिय वस्तु को छायारूप-अपरम्पार न मानकर, उसे अपने दिल का आधार, अपने जीवन म होन वाले कई अनुभवा का कारण अर्थात मनुष्य मानना ह। नवीन की प्रवत्ति यथाथवादी है। समय स स्फूर्ति प्राप्त कर उन्होन भारतीय क्रान्ति के गीत गाय।

> आज पान देत ही दग छलका नयनों म पानी।
> देख तुम्हारी यह आकुलता मरी मति गति अकुलानी॥

'दिनकर' 'नवीन' से कुछ अधिक चित्रकार है। ग्रामीण या अन्य चित्रो के द्वारा ही उन्होन अपनी भावनाआ को प्रकट किया अर्थात उनकी काव्यात्मा न जीवन के कुछ विस्तृत कोना तक छू लिया। भारत के चित्र ही हम भारत स बद्ध करायेंगे। 'दिनकर' की न कवल प्रवत्ति यथाथवादी है परन्तु कला भी वही ह। वीरेन्द्रकुमार भी इस सौन्दयगत यथाथवाद से अलग नही। वे वास्तव म सौन्दय चित्रो में ही अरूप भावना-लोक म परिभ्रमण कर रह हैं अर्थात अत्याधुनिक काल के कवियो न वास्तव की उपक्षा न की। 'नेपाली' की कविता इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ह। 'अनय' भारत की विकसनशील सस्कृति के मुख्य अगा म स एक अग अर्थात कमण्यता का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिन्दुस्तान की बलवान आत्मा यदि दशन, कविता, विनान की उपलब्धि के लिए पोषक समझती ह तो कम को भी वह महत्त्व देती ह। आधुनिक सास्कृतिक उत्थान के लिए कम भी उतना ही

अनिवार्य है जितना कि बौद्धिक और भावात्मक पक्ष। सम्पूर्ण विकास को दृष्टि में रखते हुए हम 'अनय' की तेजस्विता सुन्दर परिणाम के लिए सहायक प्रतीत होती है।

आधुनिक भारतीय जीवन विश्व-जीवन के झकोरों से संवेदित है। राष्ट्रीय नैतिक जागरण सांस्कृतिक उत्थान का केवल एक पक्ष है। आधुनिक भारतीय अपने आपको अन्य देशीय लोगों में बिलकुल भिन्न नहीं पाता। क्या बौद्धिक और क्या भावनात्मक पक्ष में हम गेटे बर्गसन शोपेनहॉर नीत्शे कांट हेगल फिश्टे शेलिंग मार्क्स क्रोपाटकिन अनातोल फ्रांस रोम्यां रोलां मेटरलिंक हार्डी लारेन्स स्टीफेन्सन यीट्स टगोर गांधी टाल्सटाय खय्याम कालिदास से अलग अनुभव नहीं करते। हमने इन्हीं लोगों से बहुत-कुछ स्वीकार किया है। विश्व-साहित्य इतना विस्तृत और अपार है कि मानवी व्यक्तिकरण की कलात्मकता और उसके अध्यात्म की गहराई पर आनन्दाश्चर्य होता है। हिन्दुस्तान भी विश्व की संस्कृति का उत्तराधिकारी है। उसकी संस्कृति इसलिए विश्वात्मक होना चाह रही है। हम प्रगति की ओर यत्नशील हैं। स्वभावतः मानवीय आत्मा प्रगतिशील होती है। हमारे पूर्वगामी कविगण का भी हमारी उन्नति में काफी हाथ है। हम उनके कंधों पर खड़े होकर विश्व देख रहे हैं।

मैं आपसे पहले कह चुका हूँ कि अत्याधुनिक काव्यधारा वास्तव को अत्यन्त सहानुभूति से देखती है। लेकिन इससे यह समझना चाहिए कि वह गद्यात्मक (Prosaic) है। सही बात इससे बिलकुल उल्टी है। वह अत्यन्त मानवी है। पन्त प्रसाद वर्मा का रोमांटिक युग समाप्त नहीं है, केवल उसकी दिशा में थोड़ा सा परिवर्तन है।

'बच्चन' का 'निशा निमंत्रण' अत्याधुनिक इसलिए है कि उसमें जितनी उत्तमता से यथार्थ के प्रति भावनात्मक रिश्ते का निदर्शन कराया गया है वह हिन्दी-साहित्य जगत में दुर्लभ है। भावनाओं के लिए अन्तःकरण और उसकी कल्पनात्मक वृत्तियाँ ही काफी नहीं हैं बल्कि स्व-बाह्य संसार और उसकी निज पर प्रतिक्रियाओं की तथ्यपरात्मक भिन्नता का विस्तृत और अधिक उन्नत अन्तःकरण में परिवर्तन कर देना इष्ट है। यथार्थवाद का यही महत्त्व है। फिर अपने स्व में और स्व-बाह्य जगत में कोई अन्तर नहीं रह जाता। बच्चन के लिए स्व-बाह्य कल्पना से अधिक महत्वपूर्ण है। स्थान कल्पना का आश्रय न लेकर—विचार या तर्क को भी त्यागकर बच्चन की भावनाएँ बाह्य का आत्मसात करना चाहती हैं। यथार्थवाद का आध्यात्मिक अर्थ यही है और इसलिए यथार्थवादी नगर जीवन के प्रति अधिक उदार रहे हैं।

बच्चन अपनी उन्मनता में कुछ अंशों में जब गिरते हैं तब वह आध्यात्मिक धरातल उनके लिए कुछ अर्थ में अपना कुछ खो देता है। जब विचार या तर्क

को तलाक देकर, कल्पना की रंगीनपन म नाज आकर असन्तुष्ट भावनाए सन्ताप के लिए आमलीन होने के बजाय बाहर दौड़ती फिरती हैं, तब सिवा भाग्यवाद के कोई वाद आश्रय नही दे सकता। मैंने एक जगह कहीं लिखा है—

'मनुष्य साधारणत मानस के ऊपरी सतह पर रहता है। उसकी विविध इच्छाएँ अभिमान बौद्धिक ज्ञान भी इसी छिछले पानी म पनपने से उस बाह्य की ओर ले जाते है। बाह्य जगत म सन्ताप नाम की चीज नहीं मिल सकती। अपने अन्दर सुख टटोलने के बजाय जब मानवी मन बाहर भटकता फिरता है तब सिवा भाग्यवाद और निराशावाद के और दूसरा वाद आश्रय नही दे सकता, क्योंकि आशावाद का दूसरा नाम है 'आत्मबल'। मेरा दृष्टिकोण स्पष्ट है। 'बच्चन' के भाग्यवाद से आत्मोन्नति का कोई सम्बन्ध नहीं कारण 'बच्चन' पतन-उन्नयन म विश्वास कम रखते है। उनके लिए सब मानवी अन्तःकरण समान है। इसलिए उनके साहित्य म आत्मा का प्रश्न ही नही उठता। उनके साहित्य की उपज आत्म चैतन्य (self consciousness) में नहीं है।

स्वान्तजगत और बाह्य जगत की विरोधी स्थिति से उठकर उन दोनों की साम्यावस्था से जनित जो व्यापक दृष्टिकोण है वह यथार्थवाद की आत्मा है। यथार्थवादी की कला उस विरोधी स्थिति को मिटाने का प्रयत्न है जिसको मैं आध्यात्मिक कहता हूँ। यही जब किंचित् विकृत हो जाती है अर्थात जब मानवी मन बाह्य को उसके स्वरूप म न लेकर अपनी संकुचित भावनाओं को उस पर लादना चाहता है तब जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ मनुष्य भाग्यवादी हो जाता है। कहने का सारांश यह है कि भाग्यवाद मनुष्य की भावनाओं के विकार से उत्पन्न है। किन्तु 'बच्चन' के साथ यही विकार उनका कुछ उपकार भी कर गया। जब 'बच्चन' की अतार्किक, कल्पना विगत, भावनापूर्ण दृष्टि ने बाह्य को देखा तब सुख मिटनेवाला देखा और दुःख अगाध देखा। संसार की इस स्थिति से उनका कवि हृदय व्यापक हो गया। दुखियों के प्रति सहानुभूति की गहराई जितनी अधिक मुझे 'बच्चन' म दिखलाई दी उतनी मुझे खेद है छायावादी न दिखला सके। वास्तव म संसार के दुःख के असाध्य रोग ने 'बच्चन' के हृदय को अत्यन्त व्यापक और उदार बना दिया। 'निशा निमंत्रण' इस दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर काव्य है। अपने दुःख से पीडित होकर 'बच्चन' ने संसार के दुःख के दर्शन किये। उनकी प्रिय पत्नी के निधन ने उनके हृदय को नयी आँखें दीं। क्राइस्ट की जगत के प्रति करुणामयता की तुलना 'बच्चन' की इस आर्द्रता से की जा सकती है।

'बच्चन' का भाग्यवाद भावना-जन्य है तर्कजन्य नहीं। उनकी फिलासफी के लिए उनका हृदय टटोला जाएगा। महादेवी वर्मा के आँसू हमारे हृदय को रुला नहीं सकते, किन्तु 'बच्चन' का 'निशा निमंत्रण' पढ़ते समय बरबस आँखें तर

हो जाती है कारण यह कि महादेवी वर्मा ने दु खवाद का धम (Cult) बना लिया जो उनकी कल्पना से उत्पन्न है। इसके विपरीत बच्चन' स्वय रोया है खूब तब वह दूसरा को रुला सका।

बच्चन का वास्तव वाद अत्यन्त मानवीय है। उसम हमारा दिल हिला देने की शक्ति है। भावनात्मक दृष्टि से जीवन क मूल्य पहचानने का यह प्रयास है। अत्याधुनिक काल की प्रमुख धारा का इससे अधिक सुदर दशन आपको और कहीं नहीं हो सकता।

यही वास्तव वाद दूसरे स्वरूपा म आपको अन्य कवियो म मिलेगा। नवीन म वह ओज और स्फूर्ति स युक्त मिलेगा अनेय' म कम की जयय तारन के स्वरूप म और 'दिनकर' म कभी करुणा बेवसी और कभी युद्ध भावावेग क स्वरूप म दिखलाई दगा।

हमारा प्रयत्न जीवन को उसक विविध और समग्र रूप म एक ही साथ लेकर मानवी-आत्मा को दिशा निर्देश करने म होना चाहिए। ऐसा कवि मनुष्य जीवन का बहुत बडा उन्नायक होगा। पर अभी हमने पाया बहुत कम है। ब्राउनिंग कहता है—

Grow old along with me
The best is yet to be
The last of life for which the first was made

प्रश्न यह है कि आखिर रचना क्यों ?

प्रश्न यह है कि आखिर रचना प्रक्रिया में इतनी दिलचस्पी क्यों ? मेरे खयाल से इसका एक उत्तर तो यह है कि उसके अंतस्तत्वों के विश्लेषण से सौंदर्य-सम्बन्धी किसी सामान्य सिद्धांत पर आया जा सकता है। दूसरे भी उत्तर हो सकते हैं। उदाहरणतः जीवन के विस्तृत क्षेत्र को साहित्य में लाने के लिए अर्थात उसके प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत करने के लिए हम प्रभावोत्पादकता के रहस्य को समझें। इसके अतिरिक्त और भी उत्तर हो सकते हैं जैसे—अपनी विशेष काव्य प्रवृत्ति का औचित्य सिद्ध करने के लिए रचना प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाए।

कोई भी देश व्यक्ति या प्रवृत्ति अपने-अपने इतिहास से जुदा नहीं हो सकती। हिन्दी में रचना प्रक्रिया का जो विश्लेषण शुरू हुआ वह मुख्यतः नयी कविता को (या कहिये नई काव्य प्रवृत्तियों) ध्यान में रखकर ही। कभी आधुनिकता के नाम पर तो कभी सौंदर्य के नाम पर, यह काम हाथ में लिया गया। किंतु रचना प्रक्रिया का कोई तटस्थ (ऑब्जेक्टिव) विश्लेषण सामने नहीं आया। विश्लेषक का संवेदनात्मक उद्देश्य रचना प्रक्रिया का कोई तटस्थ अन्वय-समन्वय करना विश्लेषण करना नहीं था, वरन् एक विशेष प्रवृत्ति की स्थापना करना रह आया। परिणाम यह हुआ कि ऐसे प्रयत्नों से संभवतः, काव्य-क्षेत्र को कला क्षेत्र का विशेष लाभ नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में, जीवन के सुविस्तृत वैविध्य और मूलभूत एकता के कोई विशिष्ट और संश्लेषणात्मक चित्रण का मार्ग ऐसे विश्लेषण ने प्रस्तुत नहीं किया। रचनात्मक प्रक्रिया के विश्लेषण से यदि सृजनशील साहित्य का मार्ग अधिकाधिक प्रशस्त हो तो कहना ही क्या है!

रचना प्रक्रिया का तटस्थ विश्लेषण मेरे ख्याल से अत्यंत कठिन है दुष्कर है। इसके कई कारण हैं एक तो यह है कि रचना प्रक्रिया एक नहीं अनेक है विविध है, और उनकी विभिन्नता अत्यधिक है। रचना प्रक्रिया सृजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। कवि-स्वभाव कवि-दृष्टि और विषय-वस्तु (या बहिर्गत तथ्य) के अनुसार वह बनती-बदलती है।

प्रगतिशील काव्य की दृष्टि के विरोध में, अथवा उसकी प्रतिकूल स्थिति में नयी काव्य प्रवृत्ति में प्रकट 'स्व' के महत्त्व को स्थापित करने के लिए रचना प्रक्रिया की स्वात्मकता को उठाकर उभारदार बनाने के लिए जिससे कि अन्य जनों का ध्यान उसकी स्वात्मकता पर खींचे रचना प्रक्रिया के विश्लेषण की ओर प्रवृत्ति हुई। किन्तु आगे चलकर ज्योंही प्रगतिशील पतन और प्रवृत्तिक्षीण होकर निराहित होने लगी रचना प्रक्रिया के वास्तविक विश्लेषण से विमुक्त होने लगी। यह विमुखता सामान्य नहीं हानिकर है।

उसका कारण है। रचना प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ते ही हमारे सामने कई समस्याएँ और वक्तव्य खड़े हो जाते हैं। कोई कवि अच्छा या बुरा नहीं होता वह कवि या अकवि ही हो सकता है अर्थात् उसमें चेतना या जड़ता हो सकती है। एक विशद रूप-स्वरूप और प्रवृत्ति से पूर्ण जो चेतना है वह कवि की चेतना है।

इस बात को हम यों कहेंगे। कवि की मनोवैज्ञानिक स्थिति और स्तर, जो उसके काव्य में प्रकट होता है, कैसा है? किस प्रकार का है? प्रभावशील काव्य के मूल्यांकन पर या यों कहिए कि सतही प्रगतिशील काव्य पर विचार करते समय उसके मनोवैज्ञानिक स्तर और स्थिति को देखा गया। आज भी रचना प्रक्रिया पर विचार करते समय हम नई कविता के सतहीपन पर या यों कहिए कि [illegible]। नई कविता पर प्रकाश डालकर इस बात पर सोचना होगा कि क्या किया जाय जिससे नई कविता जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र के विविध रंगों से दीप्त होकर एक ओर परिपूर्ण जीवन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व कर सके, तो दूसरी ओर स्वात्मकता के स्तर और भर रंग उसमें खिल सकें।

दूसरे शब्दों में प्रश्न यह है कि जो है उसका अस्तित्व मानकर उसको आधुनिक बनाकर या वास्तविक इसकी भावना को विस्तृत करें उस [illegible] या क्या?

इस बात को हम दूसरे शब्दों में कहेंगे। क्या हम कहें कि नई कविता केवल मानसिक किन्तु तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है क्षण विशेष प्रतिक्रिया—और उसे [illegible] तो वह नई कविता नहीं है अथवा वह ऐसी काव्य प्रवृत्ति है जिसमें [illegible] (सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित है) और फिर वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व किस प्रकार से प्रतिबिम्बित है अथवा किस प्रकार से उसे प्रतिबिम्बित होना चाहिए?

नि सन्देह कृति की आलोचना अथवा कृति का प्रभाव ग्रहण, कवि के व्यक्तित्व का भी प्रभाव ग्रहण है।

इसी बात को हम दूसरे शब्दो म कहेंगे । क्या हम यह कहें कि नई कविता केवल गद्य भावान्वित, मानसिक किन्तु तीव्र सवेदनात्मक प्रतिक्रिया है या उसमे 'सम्पूर्ण व्यक्तित्व' (टोटल पर्सनलिटी) लिपटी हुई (इनवाल्व्ड) होनी चाहिए ? यह सही है कि टोटल पर्सनलिटी जसे शब्दों की व्याख्या के लिए फिर प्रश्न पूछे जाएगे लेकिन मतलब साफ है।

प्रगतिशीलता और यातनाग्रस्त मानवता

इन नदियों का जन्म कहाँ और कैसे हुआ, यह कहना मुश्किल है। भूगर्भ शास्त्रियों का मत है कि इस हिमयुग में (यह शायद चौथा हिमयुग है) हजारों सालों से एकत्र प्राचीन हिम-खण्डों का भार जब अधिकाधिक असंतुलित होने लगा, तब एकाएक उनके कुछ हिस्से अपनी-अपनी जगहों पर हिलने लगे। ज्यों ज्यों भार बढ़ता गया त्यों-त्यों हिम-खण्डों के पर उखड़ते गए और आखिर वह समय भी आया जब वे हिम नदी या ग्लेशियर बनकर अनेकों महासरिताओं के आदि स्रोत बन बैठे।

नदियाँ हमारे सामने हैं। उनका मूलस्थान अमुक हिमनदी है यह कहना मुश्किल है। किन्तु यह पक्की बात है कि उनका आदि—हिम बहुत पुराना है।

वह आदि हिम क्या है, इसका पता लगा है अभी हाल में। आज की जिन्दगी में वे दृश्य हमें दिखाई देते हैं जो महाभारत काल में थे। अंतर इतना ही है कि युद्धस्थल के प्रांगण में आधुनिक कौरव और पाण्डव—सारा मानवीय [illegible] है। [illegible] में आन्तरिक उद्देश्यों और स्वभावों के भेद के साथ ही साथ एक बात सामान्य है और वह यह है कि समाज की ह्रासकालीन स्थिति और व्यक्तित्व का

हमारी सदी के महाभारत में और आज के महाभारत में उतना ही अन्तर है जितना कि प्रथम हिमयुग और चौथे हिमयुग के बीच। भूगर्भशास्त्रियों का कहना है कि अति प्राचीनकाल में सिंधु, सतलज सरस्वती, यमुना और गंगा एक ही घाटी में बहती थीं यानी उस काल में भौगोलिक स्थिति कुछ दूसरी ही थी और ये विभिन्न नदियाँ न थीं वरन् एक ही सरिता थी जो पश्चिम से पूर्व की ओर बहती थी। आज उस प्राचीन स्थिति को सूचित करने वाली सिर्फ पुरानी घाटी के शिला प्रस्तार हैं जो आज भी सिंधु की तलहटी से चलकर गंगा के मुहाने तक घाटी के चिह्नों के रूप में विराजमान हैं और भूगर्भशास्त्रियों के ज्ञान के उपकरण बने हुए हैं। तात्पर्य यह कि जल के मूलतत्वों में परिवर्तन न होने हुए भी, वर्तमान नदियों की दिशाओं में परिवर्तन हो गया है। परिवर्तित दिशा वाली इन नदियों का महत्व कौन न स्वीकारेगा जबकि आज उनका मधुर जल पीकर प्रगल्भ सभ्य शक्तियाँ स्वयं को पुष्ट करती जा रही हैं और जिनके तट पर से बहती हुई हवा अनेक मानसिक और शारीरिक व्याधियों की दवा बन उठी है।

यह दिशा परिवर्तन बौद्धिक सत्य की अपेक्षा जीवन का एक जीता जागता तथ्य है। यह अलग बात है कि कुछ लोग इस तथ्य का पौराणिक विश्लेषण करें और कुछ लोग वैज्ञानिक। हर समय, हर युग में ऐसी शक्तियाँ रही हैं जो पहले 'नवीन' का विरोध करती हैं किन्तु जब वे उस नवीन को धक्का नहीं दे सकतीं तो उसकी इस प्रकार से व्याख्या करती हैं कि जिससे वह 'नवीन' 'पुरातन' का जारज मानसिक पुत्र बनकर उनके घर सेवा चाकरी करता रहे। नवीन सत्यों के आधुनिक पौराणिक व्याख्याकार हमारे बीच में अनगिनत हैं और यह पर्याप्त सम्भव है कि नये साहित्यिक युवक सामाजिक और साहित्यिक महत्व प्राप्ति की खोज में पुराणपंथियों के दत्तक पुत्र बनने में ही अपना अहोभाग्य समझें।

आज का युग ही ऐसा है कि पुराणपंथियों में से बहुतेरों ने अपना अपना जामा बदल दिया है अपने मुखौटे और अन्दाज भी बदल दिए हैं। पुराण-पंथी से हमारा तात्पर्य उन सभी सज्जनों से है जिनका मौजूदा जनता की बौद्धिक सामाजिक राजनैतिक मुक्ति के आड़े आता है। जनता शब्द के प्रयोग से घबराने की जरूरत नहीं (यद्यपि तरह-तरह के अवसरवादियों द्वारा इस शब्द का खूब दुरुपयोग किया गया है) मध्यवर्ग के गरीब बुद्धिजीवी लोग भी जनता में शामिल हैं बशर्ते कि वे समाज की थैलीशाही संस्कृति के शापू न बनें। हो सकता है कि गरीब बुद्धिजीवी और लेखक भटका हुआ हो किन्तु उसकी स्वयं की स्थिति कोई उससे छीन नहीं सकता। और आमतौर पर उसकी स्थिति ही ऐसी है कि वह जनता जनता में है। चण्डीदास का यह पद—

सुनह मानुष भाई
सबार ऊपर मानुष सत्य

शाहार ऊपर नाई

जिस मनुष्य-सत्य की घोषणा करता है उसका मूल अधिष्ठान जनता में है। इस जनता की जीवा से आशन करने देशभक्ति नहीं हो सकती।

सच तो यह है कि स्वयं के मनोभावों की कविता प्रत्येक व्यक्ति की हानि में जरा विरोधी नहीं हो जाती बशर्ते कि वे मनोभाव जनता के बीच में रहकर स्वाभाविक हुए हों। जन-मन की सर्व-साधारण मन स्थिति व्यक्ति के मनोभावों द्वारा प्रकट हो तो फिर क्या कहना। वे मनोभाव तो गरीब वर्गों की साधारण मनस्थिति के ही द्योतक हैं। अपनी बिकी हुई मेहनत बे-सहारा जिन्दगी की आकांक्षाएँ सामाजिक उलझनों से होने वाले मानसिक तनाव स्थिति-परिस्थिति की क्रिया प्रतिक्रियात्मक संवेदनाएँ आदि को अपने में सम्मिलित करने वाला विचार करना सड़ने जब लोक-मुक्ति की नयी क्रांतिकारी विचारधारा से और भी सशक्त और भी संवेदनमय हो जाता है तब जिस साहित्य का आविर्भाव होता है उसमें महान् मनुष्य सत्य होता है। इस मनुष्य-सत्य का अनादर करने वाले साधारण रूप में दो परस्पर विरोधी क्षेत्रों में आते हैं। एक वे जो मात्र क्रांतिकारी शब्दों का नारा खड़ा करने वाले व हिमायती के रूप में अपने सिद्धांतों की यांत्रिक चौखट तैयार रखते हैं—जो उसमें फिट हो जाए वह प्रगतिशील और जो उसमें कसा न जा सके वह प्रगति विरोधी—ये उनके प्रत्यक्ष परोक्ष प्रस्तुत और अप्रस्तुत मुखर और गोपनीय निर्णय होते हैं। ये लोग गरीब मध्यवर्ग के जीवन के तत्वों से दूर अलग-थलग होते हैं। भले ही ये लोग शाब्दिक रूप से गरीबों के कितने ही हिमायती क्यों न हों इनका व्यक्तित्व स्वयं आत्म-बद्ध अहं ग्रस्त महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार और रागद्वेष की बहुमुखी प्रवृत्तियों से निपीड़ित होता है बोध हीन बौद्धिकता का शिकार यह वर्ग जिस संवेदनमय कविता की आलोचना करता है उसकी संवेदनाओं की मूल आधार भूमि को वह हृदयंगम नहीं कर सकता।

हमारे गरीब मध्यवर्गीय सचेत युवकों के कष्टों का इतिहास केवल तात्कालिक व्यक्तिगत आर्थिक कारणों से ही नहीं है वरन् वर्ग के अनेक रूप पुराणपंथी संस्कारों और अविचारों से संघर्ष की रक्तिम वेदनाओं में आच्छन्न है। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की आराम कुरसी पर बैठे हुए ये मसीहा निर्णय दे सकते हैं लेकिन नवयुवक-लेखक की बाँह पकड़ कर सहारा नहीं दे सकते उसकी कार्योन्मुखी मनोदशाओं को नहीं समझ सकते। उसके व्यक्त-कष्टों में उन्हें कोई मनुष्य-सत्य नहीं दिखायी देता। वे तो इस कविता का अपना प्रमाण पत्र देंगे जिसमें उनकी अभिरुचि की जिद पूरी होती हो। यही कारण है कि सौ प्रगतिशील शब्दों पर अधिकार करके कोई भी टुटपूँजिया लेखक 'इसकस' जैसी सांस्कृतिक पत्रिका के किसी लेख में अपने नाम को प्रकाशितपाता रहे। असलियत

यह है कि य आलोचक गण उस जीवन भूमि को ही नहीं समझते (अथवा उनमें इतनी संवेदन-क्षमता नहीं है कि वे समझ सकें) जिसमें गरीब नवयुवक-लेखक की प्रतिभा का जन्म हुआ है। इसलिए ये लोग व्यवहार और विचार में भेद रखने वाले लोगों की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाते हैं या फिर ऐसे लोगों को ही 'प्रगतिवादी' समझते हैं जो उनकी राजनतिक शब्दावली परिभाषाओं का कविता करते हों। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि नवीन कष्टग्रस्त प्रतिभा को लेकर प्रोत्साहन और प्रेरणा के लिए उनकी तरफ नहीं देखना। इसलिए कि हमारे ये साहित्यिक नेता हृदय और बुद्धि के क्षेत्र में कठोर अहवादी हैं कष्टग्रस्त मनुष्य-जीवन के ममम होने के पहले वे आलोचक और मसीहा हैं। मनुष्य-जीवन के भव्य संवेदना-सत्या के प्रति उनमें आवश्यक नम्रता भी नहीं है। न इतनी आस्था है कि वे य मानें कि युग-सत्य विभिन्न रूपों और विविध आलोकों म विविध विचारों और भावनाओं में वलयित होकर आज की संघर्षशील मानवता के हृदय में अधिष्ठित है। इस आस्थाहीनता के कारण ही, उनके द्वारा समर्थित कविता सम्पूर्ण मनुष्य की गौरवपूर्ण नीतिमता सर्वांगीण मानवी पक्षों का भव्य दृश्य, सुकुमार भावनाओं की मनुष्योचित गरिमा दिखायी नहीं देती बरन् पिटी पिटाई शर्त तकारिला का सभामची आत्म प्रदर्शन दिखायी देता है।

कहने का तात्पर्य किसी व्यक्ति को नीचे दिखाना नहीं है अथवा हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण सफलताओं का नजर-अन्दाज करना भी नहीं है। इन सफलताओं का एक महत्त्वपूर्ण कारण ये नेता भी हैं इसमें कोई शक नहीं। और जो लोग उनके प्रति राग-द्वेष की अहं ग्रस्त भावना से आक्रमण करते हैं उनके प्रधान निन्दकों में से हम स्वयं हैं। किन्तु यह भी निश्चित है कि इस नेतृत्व की कमजोरी ने हिन्दी के वास्तविक प्रगतिशील साहित्य के और आगे विकास में बाधा उपस्थित की है और उनके व्यक्तिगत दुराग्रहों ने (जिस पर मार्क्सवाद का मुलम्मा चढ़ाया जाता है) उसका गला घोटने में कोई कसर नहीं रखी है। यही कारण है कि प्रगतिशील कविता अधिक उन्नति न कर सकी और विपक्षियों को यह कहने का मौका मिला कि प्रगतिशील कविता मर गयी है कि उसका युग समाप्त हो गया है। असल यह है कि अत्यन्त सजीव प्रगतिशील कविता का जन्म मैंने अपनी इन आँखों से इन्हीं दिनों मध्यप्रदेश में होते देखा है। मजा यह है कि उसका जनक वही कष्टग्रस्त मनुष्यता है जिसकी चारों ओर से उपेक्षा है। यह बात बिलकुल अलग है कि इस प्रगतिशील कविता का रूप अलग अलग हो। मानव-जीवन विविधता के अनुसार है उसके विविध रूप और विविध गुण हैं। विविध विषय विविध कल्पनाएं और विविध ऊँचाइयाँ हैं। यह ठीक है कि इस नयी पौध में से नुकीलेपन में हाथ की सफाई और बात की सफाई अभी नहीं आयी है।

नवीन कष्ट ग्रस्त प्रतिभा का विरोध एक दूसरे क्षेत्र से भी होता है। इस क्षेत्र के प्रतिनिधि कष्ट ग्रस्त जीवन के कारण कवि में उत्पन्न नई अंतर्मुखता का उपयोग अपने लिए करना चाहते हैं। वे उस अंतर्मुखता के मूल उद्वेगों के क्रांतिकारी अभिप्रायों को दबाकर उस अंतर्मुखता को इस प्रकार से प्रोत्साहन देते हैं कि वह अंतर्मुखता अपने प्रधान विद्रोहों से छूट कर अलग हट जाय। अंतर्मुखता में वे व्यक्ति को ही प्रधान मानकर उस व्यक्ति को प्रगतिशील सामाजिक शक्तियों से अलग हटाते हुए व्यक्ति-स्वातंत्र्य की अहं की घोषणा करते हैं। वस्तुतः ये अहं उनका है जिन्होंने या तो अपनी जड़ें कष्ट ग्रस्त मानवता की धरती में बढ़ती हुई देखी नहीं है या वे जड़ें हैं ही नहीं। असलियत यह है कि जिस मन की अंतर्मुखता जन मन की भावनाओं में भीगी हुई है उसके क्षोभों और द्रोहों में सबद्ध हुई है पीड़ित मानवता का ममत्व वह हृदय जनता से छिटक कर व्यक्ति स्वातंत्र्य और अहं के कार्फे-हाउस में योरोपीय और भारतीय संस्कृति की गप्प नहीं लड़ा सकता। आराम पसन्द अर्ध-सामन्ती उच्च मध्यवर्ग की लालसाओं में जकड़े हुओं ने उस लालसा का अध्यात्मीकरण किया है। उनकी महत्त्वाकांक्षा वर्तमान समाज में शासन करने की है—अपने विचारों द्वारा और अपनी भावनाओं द्वारा। ध्यान में रखने की बात है कि आज उच्च मध्यवर्ग और गरीब निम्न मध्यवर्ग में खाई पड़ी हुई है भेद की दीवार खड़ी हुई है।

हमारे गरीब मध्यवर्गीय युवक को इन खतरों से सावधान रहना होगा। अपनी कविता की पुष्टि के लिए उसे अपने मूल उद्वेगों की स्थिति-परिस्थितिगत स्रोतों का पता लगाना होगा और उन परिस्थितियों को दूर करने के लिए उसे सही और निर्णायक कदम उठाने होंगे उन अपने माता पिता को याद करनी होगी जिन्होंने शक्ति दी किन्तु सुख नहीं लिया। अपने कष्टग्रस्त माता पिता भाई-बहनों संगी-साथियों के सजल आंतरिक आशीर्वाद में पुष्ट इस गरीब मध्यवर्गीय कविता का प्रधान सेंटिमेंट जनतान्त्रिक ही रहेगा चाहे उसका विषय शृंगार ही क्या न हो। उसका शृंगार गीत-गोविन्द हयूत रामायण आदि का शृंगार नहीं होगा वरन होरी और धनिया तथा सिलिया का शृंगार होगा। उसकी करुणा दया और प्रेम में अपनी सार्वजनिक मानवीयता काम करेगी। पयकगामी अध्यात्म की अंतर्मुखता के बजाय उसमें सूर और मीरा की तन्मयता और कबीर का फक्कड़पन होगा।

जनता का साहित्य किसे कहते हैं ?

ज़िन्दगी के दौरान में जो तजुर्बे हासिल होते हैं उनसे नसीहतें लेने का सबक तो हमारे यहां सैकड़ों बार पढ़ाया गया है। होशियार और बेवकूफ में फ़र्क बताते हुए एक बहुत बड़े विचारक ने यह कहा 'गलतियां सब करते हैं लेकिन होशियार वह है जो कम से कम गलतियां करे और गलती कहां हुई यह जान ले और यह सावधानी बरते कि कहीं वही गलती तो फिर नहीं हो रही है।' जो आदमी अपनी गलतियों से पक्षपात करता है उसका दिमाग साफ नहीं रह सकता।

गलतियों के पीछे एक मनोविज्ञान होता है। या यूं कहिए कि गलतियों का स्वयं एक अपना मनोविज्ञान है। तजुर्बे से नसीहतें लेते वक्त अपने गलतियों वाले मनोविज्ञान के कुहरे को भेदना पड़ता है। जो जितना भेदेगा, उतना पाएगा। लेकिन पाने की यह जो प्रक्रिया है वह हमें कुछ सिद्धान्तों के किनारे तक ले जाती है कुछ सामान्यीकरणों को जन्म देती है। यानी तजुर्बे की कोख से सिद्धान्तों का जन्म होता है।

मैं अपने तजुर्बे से कौन सा निष्कर्ष निकालूं यह एक सवाल है और तजुर्बा यह है।

एक उत्साही सज्जन को जब मैंने यह कहा कि फलां पार्टी छोटी-छोटी बातों पर इतनी देर से क्यों वक्तव्य निकाल रही है। तो उसका जवाब देते हुए उन्होंने यह कहा कि वक्तव्य मैंने लिखा (वे उस पार्टी के हैं) और पार्टी उसे पास करने जा रही है। आपका भी यह काम था कि आप उन वक्तव्यों को जल्दी से जल्दी लिखते और पास करवा लेते।

मैंने इसका जवाब यह दिया कि वह मेरा काम नहीं है मेरे काम में हिस्सा बंटाने के लिए क्या वे लोग आते हैं ! (मेरे काम से मेरा मतलब साहित्यिक कार्य से था) उन्होंने उसका जवाब यह कह कर दिया कि यह आपका व्यक्तिगत कार्य है और वह सामूहिक।

इसका यह मतलब हुआ कि साहित्य एक व्यक्तिगत कार्य है और राजनीति सामूहिक कार्य और सामूहिक कार्य में व्यक्तिगत स्वार्थ की कोई महत्ता नहीं।

लेकिन क्या यह सच है ? क्या कविकर्म मात्र व्यक्तिगत है ? क्या साहित्यक काय की मूल प्रेरणा और क्षेत्र शुद्ध व्यक्तिगत है ?

मजेदार बात यह है कि साहित्य को मात्र व्यक्तिगत काय कह कर व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कह कर अपने हाथ भाड पाछ कर साफ करने वाल ठीक वे ही लोग हैं जो जनता के लिए साहित्य का नारा बुलन्द करते हैं। ग उन्हें यह मालूम नहीं कि जिन शब्दों को व बार बार दुहरा रहे हैं उनका मतलब क्या है।

यह छोटी सी बात हमारे हिन्दुस्तान के पिछड़ेपन को ही सूचित करती है। स्वतन्त्र होने पर भी हमारा देश आर्थिक दृष्टि स अभी गुलाम है। औपनिवेशिक देश के बुद्धिजीवी निश्चित ही उतने ही पिछड़े हुए हैं जितना कि उनका अथ तन्त्र।

यूरोप म एक एक विचार की प्रस्थापना के लिए बडी बडी कुरबानियाँ देनी पड़ी हैं। लेकिन हिन्दुस्तान को पका पकाया मिल रहा है। लकिन चूंकि उसके पीछे स्वतन्त्र उद्योग नहीं है इसलिए बहुत से विचार हजम नहीं हो पात। शरीर म उनका खून नहीं बन पाता। आँखों म उनकी लौ नहीं जल पाती। मस्तिष्क म उनका प्रकाश नहीं फल पाता। इसलिए विचारों म बचकानापन रहता है। और काय विचारों का अनुसरण नहीं कर पाते। यह बात हिन्दुस्तान के औपनिवेशिक रूप पर ही हमारी दृष्टि ल जाती है।

हम अपने मूल प्रश्न पर आए। क्या साहित्य काय मात्र व्यक्तिगत काय है मात्र व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है ?

इसका जवाब यों है

१ साहित्य का सम्बन्ध आपकी सस्थिति स है आपकी भूख-प्यास स है मानसिक और सामाजिक। अतएव किसी प्रकार का भी आदर्शात्मक साहित्य जनता से असम्बद्ध नहीं।

२ जनता का साहित्य' का अथ जनता को तुरन्त ही समझ म आन वाल साहित्य स हरगिज नहीं। अगर ऐसा होना तो किस्सा तोता मना और नौटकी ही साहित्य क प्रधान रूप होने। साहित्य के अन्दर सास्कृतिक भाव होते है। सास्कृतिक भावों का ग्रहण करन के लिए बुनन्दी बारीकी और खूबसूरती को पहचानन क लिए उन असलियत का पान क लिए जिसका नक्शा साहित्य म रहता है सुनन या पढ़ा वाल की कुछ स्थिति अपेक्षित हानी है। वह स्थिति है उनकी शिक्षा उनक मन का सास्कृतिक परिष्कार। साहित्य का उद्देश्य सास्कृतिक परिष्कार है मानसिक परिष्कार है। किन्तु यह परिष्कार साहित्य क माध्यम द्वारा तभी सम्भव है जब सुनन वाल या पढ़न वाले की अवस्था स्वय शिक्षित हो। यही कारण है कि मार्क्स का डास क पिटल लनिन क ग्रन्थ रोम्याँ रोलाँ क टालस्टाय और गोर्की के उपन्यास एकदम अशिक्षित और असस्कृत जनता क न समझ म आ सकते हैं न वे

उनके पढ़ने के लिए होते ही है। 'जनता का साहित्य' का अर्थ 'जनता के लिए साहित्य' से है' और वह जनता ऐसी हो जो शिक्षा और संस्कृति द्वारा कुछ स्टैंडर्ड प्राप्त कर चुकी हो। ध्यान रहे कि राजनीति के मूलग्रंथ बहुत बार बुद्धिजीवियों के भी समझ में नहीं आते जनता का तो कहना ही क्या। लेकिन वे हमारी सांस्कृतिक विरासत हैं। इस राजनीतिप्रिया के मूल भाव हमारी राजनीतिक पार्टियाँ और सामाजिक कार्यकर्ता अपने भाषणों और आसान जबान से लिखी किताबों द्वारा प्रसारित करते रहते हैं। चूँकि ऐसे ग्रन्थ जनता के एकदम समझ में नहीं आते (बहुत बार बुद्धिजीवियों की समझ में भी नहीं आते) इसलिए वे ग्रन्थ जनता के लिए नहीं यह समझना गलत है। अज्ञान और अशिक्षा से अपने उद्धार के लिए जनता को इस प्रकार की जरूरत है। जो लोग 'जनता का साहित्य' से यह मतलब लेते हैं कि वह साहित्य जनता के तुरन्त समझ में आए जनता उसका मर्म पा सके यही उसकी पहली कसौटी है—वे लोग यह भूल जाते हैं कि जनता को पहले सुशिक्षित और सुसम्पन्न करना है। वह फिलहाल अंधकार में है। जनता को अज्ञान से उठाने के लिए हमें पहले उसको शिक्षा देनी होगी। शिक्षित करने के लिए जैसे ग्रंथों की आवश्यकता होगी वैसे ग्रंथ निकाले जाएँगे और निकाले जाने चाहिए—लेकिन, इसका मतलब यह नहीं कि उसको प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले ग्रंथ तो श्रेष्ठ हैं और सर्वोच्च शिक्षा देने वाले ग्रंथ श्रेष्ठ नहीं हैं। ठीक यही भेद साहित्य में भी है। कुछ साहित्य तो निश्चित ही प्रारम्भिक शिक्षा के अनुकूल होगा तो कुछ सर्वोच्च शिक्षा के लिए। प्रारम्भिक श्रेणी के लिए उपयुक्त साहित्य तो साहित्य है और सर्वोच्च श्रेणी के लिए उपयुक्त साहित्य जनता का साहित्य नहीं है यह कहना जनता से गद्दारी करना है।

तो फिर 'जनता का साहित्य' का अर्थ क्या है ? जनता के साहित्य से अर्थ है ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन मूल्यों को जनता के जीवनादर्शों को प्रतिष्ठापित करता हो उसे अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो। इस मुक्तिपथ का अर्थ राजनैतिक मुक्ति से लगाकर अज्ञान से मुक्ति तक है। अतः इसमें प्रत्येक प्रकार का साहित्य सम्मिलित है बशर्ते कि वह सचमुच उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करे।

जनता के मानसिक परिष्कार उसके आदर्श मनोरंजन से लगाकर तो क्रांतिपथ पर मोड़ने वाला साहित्य मानवीय भावनाओं का उदात्त वातावरण उपस्थित करने वाला साहित्य जनता का जीवन चित्रण करने वाला साहित्य मन को मानवीय और जन को जन-जन करनेवाला साहित्य—शोषण और सत्ता के घमंड को चूर करनेवाले स्वातंत्र्य और मुक्ति के गीतों वाला साहित्य—प्राकृतिक शोभा और स्नेह के सुकुमार दृश्यों वाला साहित्य—सभी प्रकार का साहित्य सम्मिलित है—बशर्ते कि वह मन को मानवीय जन को जन जन बना सके और जनता को मुक्तिपथ पर अग्रसर कर सके। साहित्य के सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण जनता का

दृष्टिकोण है। फ्रांस के लुई एरगां ने द्वितीय विश्व युद्ध में जनता के बीच काम किया। और युद्ध समाप्ति पर रोमैंटिक उपन्यास लिखा। शायद उन्हें जन संघर्ष के दौरान में दुश्मनों से लड़ते लड़ते रोमैंटिक अनुभव भी हुए हों। उन अनुभवों के आधार पर उन्होंने रोमैंटिक उपन्यास लिखे। किन्तु तुरन्त बाद ही वे ऐसे उपन्यास लेकर आए जिसमें अलावा एक रोमैंटिक धारा के जनता के संघर्ष का सौन्दर्यात्मक चित्रण था। यही हाल इलिया एहरेनबर्ग आदि का है। उनका उपन्यास स्टॉर्म (तूफान—इसका हिन्दी में अनुवाद हो चुका है) भी जन-संघर्ष के दौरान का चित्रण करता है जिसमें कई मानवोचित रोमैंटिक घटनाओं और उपकथाओं का सन्निवेश है। उसी तरह सोवियत साहित्य के अन्तर्गत द्वितीय विश्व युद्ध के विशाल साहित्य विश्व में मानवोचित सुकुमार रोमैंटिक कथाओं और प्राकृतिक सौन्दर्य दृश्यों का अंकन किया गया है।

जो जाति जो राष्ट्र जितना ही स्वाधीन होता है यानी जहाँ की जनता शोषण और अज्ञान से जितने अंशों तक मुक्ति प्राप्त कर चुकी होती है उतने ही अंशों तक वह शक्ति और सौन्दर्य तथा मानवादर्श के समीप पहुँचती हुई होती है। आज की दुनिया में जिस हद तक शोषण बना हुआ है जिस हद तक भूख और प्यास बढ़ी हुई है उसी हद तक मुक्ति-संघर्ष भी बढ़ा चला है और उसी हद तक बुद्धि तथा हृदय की भूख-प्यास भी बढ़ी हुई है।

आज के युग में साहित्य का यह काम है कि वह जनता की बुद्धि तथा हृदय की इस भूख-प्यास का चित्रण करे और उस मुक्तिपथ पर अग्रसर करने के लिए ऐसी रचना का निर्माण करे जिससे जनता प्रेरणा प्राप्त कर सके और जो स्वयं जनता से प्रेरणा ले सके। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि जनता के साहित्य से आशय किसी एक ही प्रकार का साहित्य नहीं सभी प्रकार का साहित्य है। यह बात अलग है कि साहित्य में कभी-कभी जनता के अनुरूप एक विशेष धारा का ही प्रभाव रहा—जैसे प्रगतिशील साहित्य में किसान मजदूरों की कविता का।

भर ही न जाए, किन्तु वह लेखकों और आलोचकों के लिए जरूरी है—वे लेखक और वे आलोचक जो जनता के जीवनादर्शों और जीवन मूल्यों को अपने सामने रखते हैं। यह बात ऐसे साहित्य के लिए भी सच है जिसमें मनोभावों के चित्रण में बारीकी से काम लिया गया है और अत्याधुनिक विचारधाराओं के अद्यतन रूप का अंकन किया गया है।

वास्तविक बात यह है कि शोषण के खिलाफ संघर्ष, तदन्तर शोषण से छुटकारा और फिर उसके बाद नैतिक जीवन के उदर निर्वाह सम्बन्धी व्यवसाय में कम से कम समय खर्च होने की स्थिति और अपनी मानसिक सांस्कृतिक उन्नति के लिए समय और विश्राम की सुविधा-व्यवस्था की स्थापना जब तक नहीं होती तब तक शत प्रतिशत जनता साहित्य और संस्कृति का पूर्ण उपयोग नहीं कर सकती न उसमें अपना पूर्ण स्थान ही कर सकती है।

इस सम्पूर्ण मनुष्य-सत्ता का निर्माण करने का एक मात्र मार्ग राजनीति है जिसका सहायक साहित्य है। तो वह राजनीतिक पार्टी जनता के प्रति अपना कर्तव्य नहीं पूरा करती जो कि लेखक के साहित्य निर्माण का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कह कर टाल देती है।

काव्य की रचना-प्रक्रिया

रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में मतों की भिन्नता स्वाभाविक है। इसका एक कारण तो यह है कि रचना-प्रक्रियाएँ स्वयं भिन्न-भिन्न होती हैं। वे कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषय-वस्तु के अनुसार बनती-बदलती रहती हैं। रचना-प्रक्रिया का कोई निर्विशिष्ट सामान्य रूप नहीं है यद्यपि यह सच है कि उस प्रक्रिया के मूल तत्त्व सब सामान्य हैं।

इस बात को यों भी समझें। संवेदनात्मक उद्देश्य, कल्पना, भावना, बुद्धि तत्त्व सब सामान्य हैं। उनके काम के बिना रचना-प्रक्रिया सम्भव नहीं है। किन्तु इन तत्त्वों का विभिन्न मात्राओं, विभिन्न अनुपातों और विभिन्न प्रकार के योगों से विभिन्न विशिष्ट रूप प्राप्त होते हैं। ये योग विभिन्न संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार घटित होते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य रचनाशील मन की अपनी निधि हैं और उस पूरे अन्तर्जगत का अंग हैं कि जो अन्तर्जगत कवि ने पाया और विकसित किया है। यह अन्तर्जगत् बाह्य जगत् का आत्मकृत संशोधित-सम्पादित आत्मसात्कृत रूप है और उस क्रिया-प्रतिक्रिया की गतिमान परम्परा की उपज है कि जो क्रिया-प्रतिक्रिया लगातार बाल्यकाल से बाह्य के प्रति करता आया है। संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया के भीतर न केवल भावना, कल्पना, बुद्धि और संवेदनात्मक उद्देश्य होते हैं, वरन् वह जीवनानुभव होता है जो लेखक के अन्तर्जगत का अंग है, वह व्यक्तित्व होता है जो लेखक का आत्मव्यक्तित्व है, वह इतिहास होता है जो लेखक का अपना संवेदनात्मक इतिहास है। और केवल यही नहीं होता।

बाह्य से प्राप्त ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा लेखक के अन्तर्जगत में स्थान पाकर उसके (लेखक के) व्यक्तित्व की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में, अपने विभिन्न रूप (उसके हृदय में) गठित करती हुई उसकी अपनी ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा बन जाती है। बाह्य से प्राप्त ज्ञान और भाव लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व में ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि वे उसके निजी हो जाते हैं। इसीलिए कोई भी लेखक अपने युग से केवल प्रभावित नहीं होता, वह अपने युग का अंग होता है।

काव्यकला सम्बन्धी जितनी भी समस्याएँ हैं वे इस पूरी की पूरी प्रक्रिया के किसी स्तर विशेष से सम्बन्धित होती हैं। उदाहरण के लिए, ऐसी समस्याएँ लीजिए जिनको पुराने प्रगतिवाद ने उठाया। कहा गया कि लेखक को अपने युग का सही सही प्रतिनिधित्व करना चाहिए, इस प्रकार से कि वह युग की ह्रास शील दशा के विरुद्ध प्रगतिशील प्रवृत्तियों को उभारे, समाज में जो शक्तियाँ विषमता, अनाचार और उत्पीडन को कायम रखना चाहती हैं उनके विरुद्ध वह साम्य मूलक समाज के आदर्श की स्थापना करे और पाठक को वैसी प्रेरणा प्रदान करे।

इस प्रकार के आग्रह के विरोध में जो कहा गया वह सबको विदित है, यह कि लेखक स्वतन्त्र है और नेताओं तथा शासकों के आदेश को मानने के लिए वह बाध्य नहीं है कि इस प्रकार के आग्रहों से, साहित्य में रेजीमेंटेशन होता है।

ये सब विवाद हिन्दी साहित्य के इतिहास की वस्तु हो गये हैं। किन्तु इस विवाद के मूल कारण भले भले ही आँखों से ओझल हो जाएँ वे लुप्त और नष्ट नहीं हुए हैं। आज भी लेखक के दायित्व की बात की जाती है। यही क्या? आप ने देखा कभी दूसरा भी एक ही प्रकार के भाव और शैली का प्रयोग करता है एक ही प्रकार की परम्परा और प्रणाली को अपनाता है और इस प्रकार एक विशेष प्रकार के काव्य की विशिष्ट धारा और रूढि बन जाती है—भाव रूढि रूप रूढि शैली रूढि। हाँ, यह सही है कि कवि स्वभाव के अनुसार, भिन्न भिन्न भेद यत्र-तत्र दिखाई देता है। फिर भी, यह काव्य प्रवृत्ति प्रणाली और रूढि का रूप तो धारण कर ही लेती है भले ही विशिष्ट कवियों में हम विशिष्ट भिन्नताएँ भी दिखाई दें, जैसे प्रसाद और महादेवी के काव्य में या शमशेर तथा उसी शैली के किसी दूसरे कवि में। तो क्या युग स्वयं रेजीमेंटेशन नहीं करता!! रीतिकाल में विशिष्ट शैली और विशिष्ट भाव प्रणाली की कविता ही क्या हुई? क्या वह रेजीमेंटेशन नहीं था!! और हम अपने युग की शृंखलाओं को भी क्या स्वीकार करें!! यह सही है कि कोई भी लेखक अपने व्यक्तित्व में अपने इतिहास से अधीन अपने देश-काल से स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु जब वह सचमुच स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करता है तो इसका अर्थ यह है कि युग बन्धन के लक्षण सामने आ रहे हैं तो दूसरी ओर यह भी कि लेखक आदर्श अनुगमन करने के लिए भीतर से बाध्य हो उठा है, क्योंकि (उपर्युक्त अर्थ में) स्वतन्त्रता वस्तुतः एक आदर्श है वह वास्तविकता नहीं है। अपनी युग की सीमाओं के पार देखकर पार जाकर आग के आग को देखना महत्त्वपूर्ण घटना है। इस बात को हम कैसे भूल सकते हैं।

आज भी हम (नये कवियों को) भारतीय संस्कृतियों की पुरोहित पाठ पढ़ाते रहते हैं कि कवियों को यह करना चाहिए वैसा होना चाहिए। और इस प्रकार के आग्रह और प्रश्न आगे भी उठते रहेंगे।

इन सारे प्रश्नों का सम्बन्ध कवि के अन्तर्जगत से है। जब हम यह कहते हैं कि उसे ऐसा करना चाहिए और वैसा नहीं लिखना चाहिए तो वस्तुतः हम उसके अन्तर्जगत (और उसके अन्तर में स्थित जीवन मूल्य पद्धति) पर आक्षेप कर रहे हैं। इस प्रकार के आग्रह उसके अन्तर्जगत में संशोधन करने के आग्रह हैं।

ये आग्रह गलत हैं या सही हैं यह मैं नहीं कह रहा हूँ। इस प्रकार के बाह्य से उद्गत आग्रह स्वयं लेखक मान सकता है। ठीक यहीं लेखक की सिनसियारिटी का प्रश्न उठता है। बाह्य से उद्गत आग्रहों को मानने वाले हम बहुतेरे लेखक हो सकते हैं जो अवसरवादी प्रेरणाओं से वैसा मानने के लिए तैयार हों और बाह्य से उद्गत आग्रहों को स्वीकार कर लें। किन्तु कुछ लेखक निःसन्देह ऐसे भी हो सकते हैं जो स्वेच्छापूर्वक और आत्म प्रेरणापूर्वक इन बाह्योद्गत आग्रहों को मानें और उन आग्रहों में प्रकट जीवन दृष्टियों को आत्मसात करके उन दृष्टियों को ही अपने अन्तर्जगत का अंग बना लें। लेखक की सिनसियारिटी का प्रश्न वस्तुतः उसके अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है। यदि वह अभिव्यक्ति कृत्रिम है तो निःसन्देह वहां सिनसियारिटी नहीं है। किन्तु कृत्रिमता केवल इनसिनसियारिटी की ही उपज नहीं होती वह अयथार्थ की उपज होती है अर्थात् अन्तर्जगत की निर्जीवता और जड़ता का प्रमाण हो सकती है।

इसी प्रकार का प्रश्न कवि की निःसंगता का प्रश्न है। जब बाह्य से आग्रह बलवान होते हैं और कवि उनके दबाव को सह नहीं पाता तो वह अपनी मूलभूत निःसंगता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहता है कि सृजन अकेले में होता है साहित्य व्यक्ति की उपज है जो व्यक्ति के लिए है (बाह्य आग्रहों के दबाव और प्रभाव के निरोध के लिए प्रतिरोध के लिए उपर्युक्त तर्क प्रस्तुत किया जाता है।)

यह सही है कि सृजन अकेले में होता है। ऐसी बहुत-सी बातें होती हैं जो बिलकुल अकेले में होती हैं। कहा जा सकता है कि वह भी सच होता है। किन्तु फिर भी वह एकान्तिक सच समाज स्वीकृत या समाज निंदित होता है। संक्षेप में मनुष्य की एकान्तिक दशा भी समाज के लिए विचारणीय होना है बशर्ते कि उसका कोई सामाजिक परिणाम हो या सामाजिक प्रभाव हो। ठीक इसी प्रकार सृजन की एकान्तिकता में भी सम्पर्कत्व होता है संग होता है। इस संग या सत्त्व के बिना सृजन सम्भव नहीं है। इस सृजन का परिणाम अर्थात् कलाकृति पाठकों के हाथ में जाने पर समाज में प्रवेश करना है और समाज में अपना प्रभाव उत्पन्न करती है इसलिए समाज उस पर मान्यता विचारता है और जिस कलाकृति का श्रेष्ठतम प्रभाव उत्पन्न होता है उसका रचयिता समाज द्वारा पूज्य होता है।

संक्षेप में इस प्रकार के जितने भी प्रश्न हैं वे कलाकार द्वारा आभ्यन्तरा

कृत जगत से सम्बन्ध रखते हैं अथवा अभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखते हैं या कलाकार की उस स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं कि जब कलाकार स्वतः संस्कृत अभ्यन्तरीकृत जगत की अभिव्यक्ति करता है अर्थात् सृजन करता है। इसीलिए कलाकृति में व्यक्त व्यक्तित्व की भी आलोचना की जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि अमुक कवि की अतिभावुकता अवांछनीय है। अथवा उसकी भाव दृष्टि में दोष है अथवा लेखक साम्प्रदायिक (धार्मिक अर्थ में नहीं) दृष्टि से जीवन जगत की व्याख्या करता है अपनी कलाकृति में इत्यादि इत्यादि। दूसरे शब्दों में, कलाकृति में प्रकट अन्तर्जगत और कवि के व्यक्तित्व की समीक्षा और उसका मूल्यांकन किया जाता है कहा जाता है कि यह भाव कृत्रिम है, या इसमें लेखक की ईमानदारी है या उसने जीवन का खूब देखा परखा है।

आलोचना की दृष्टि से जो बात सबसे पहले सामने आती है कवि कर्म और रचना प्रक्रिया की दृष्टि से वह सबसे अंतिम है। रचना प्रक्रिया के प्रवाह में रहकर लेखक अपने भावों की शब्दों से तुलना करता है जो शब्द सर्वाधिक प्रातिनिधिक हैं उनकी योजना करता है वह शब्द-साधना करता है साथ ही संगति और निर्वाह की साधना चलती है, वह अपने ही भावों के उत्स को संयमित कर उनका सम्पादन संशोधन करता है—संगति और निर्वाह के हेतु। जब उसकी शब्दाभिव्यक्ति उसी के लिए रमणीय हो जाती है तब वह सन्तुष्ट हो जाता है भले ही आगे चलकर वह उसमें, नवीन प्राप्त सूक्ष्म दृष्टि के अनुसार फिर से संशोधन करे।

किन्तु पाठक और आलोचक किसी कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंहद्वार से होकर अन्तर्जगत में प्रवेश करते हैं वह अन्तर्जगत जो किसी कलाकृति में उद्घाटित हुआ है वह अन्तर्जगत जिसमें कलाकार का व्यक्तित्व उसके जीवनानुभव, उसकी भाव-दृष्टि समायी हुई है। पाठक आलोचक का मन उस अन्तर्जगत् में रमता है उसका रस लेता है उसमें विचरण करता है और यदि उस अन्तर्जगत में उस कड़ी (अपने लिए) बाधा दिखाई दी तो वह वहाँ ठहर जाता है और सोचने लगता है। उसे कलाकार का अन्तर्जगत उसमें समाया हुआ व्यक्तित्व और भाव-दृष्टि आकर्षित करती है और वह यह ढूँढने लगता है और पा जाता है कि वह भाव दृष्टि उसके लिए (और सभी के लिए) क्या महत्त्वपूर्ण है या नहीं है।

संक्षेप में रचना प्रक्रिया का जो सर्वाधिक मूल स्थित सर्वाधिक प्रच्छन्न किन्तु क्रमशः प्रकट होने वाला जो अंश है वह पाठक और आलोचक के लिए सर्वप्रथम है। कलाकार रचना के समय शब्दाभिव्यक्ति के संघर्ष में, संगति और निर्वाह के संघर्ष में भावों के उत्स को प्रातिनिधिक रूप देने के यत्न में लीन होता है। यह उसका तात्कालिक संघर्ष है। पाठक आलोचक का यह तात्कालिक यत्न नहीं है। कलात्मक अभिव्यक्ति उसके लिए कलाकृति का केवल सिंहद्वार है जिसमें

से गुजरकर वह अन्तर्जगत के क्षेत्र में विचरण करता है। इसलिए मैंने कहा कि पाठक आलोचक के ध्यान का जो प्राथमिक केन्द्र है वह अन्तर्जगत् है और रचयिता के ध्यान का जो प्राथमिक केन्द्र है वह है अन्तर्जगत की प्रातिनिधिक मर्माभिव्यक्ति और कलात्मक संगति और निर्वाह।

कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंहद्वार में से गुजरकर अन्तर्जगत् में विचरण कर चुकने तथा उसके व्यक्तित्व और भाव दृष्टि का प्रभाव ग्रहण कर चुकने के उपरान्त पाठक आलोचक, अन्तर्जगत के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही सहसा सोचने लगता है कि प्रभाव उत्पन्न करने के वे उपादान कौन कौनसे हैं जिन्होंने सफल अभिव्यक्ति की तैयारी की अथवा सफलता के मार्ग पर चलते चलते लेखक ने कौन सी बाधाएं उत्पन्न कर दीं। संक्षेप में अब वह रूप और शिल्प के सम्बन्ध में सोचने लगता है। संक्षेप में किसी कलाकृति को लेकर, पाठक आलोचक की यात्रा भिन्न दिशा की ओर होती है सृजन करते समय कलाकार की यात्रा उसके विपरीत दिशा की ओर होती है। इस तथ्य को हृदयंगम करना आवश्यक है।

तब समझ में आयेगा कि जीवन जगत के आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया कलाकार के लिए क्या महत्त्वपूर्ण है। यह प्रक्रिया कलाकार के वास्तविक जीवन में चलती रहती है किन्तु क्या वह समुचित रूप में और प्रबुद्ध दृष्टि से युक्त होकर चलती रही है? यदि कलाकार का जीवन उसका बाह्य और मानसिक जीवन तुच्छ है अर्थात् मन संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं से हीन है यदि उसमें उदार सहानुभूतियों का विस्तार नहीं है यदि उसमें नितान्त आत्मबद्धता है तो फिर ऐसा अन्तर्जगत कलाभिव्यक्ति के लिए महत्त्वहीन है। संक्षेप में उस अन्तर्जगत में महत्त्व की सूचनाएँ चाहिए। [यहाँ महत्त्व का अर्थ है जो महत्त्वपूर्ण है वह]

यही कारण है कि आदिकाल से कवि को महान माना गया है उसके अन्तर्जगत में महत्त्व की स्थापना को देखकर। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि कवि को आध्यात्मिक आदर्शवादी अमुक-तमुक वादी होना चाहिए। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि कवि के अन्तर्जगत् की ओर आदिकाल से ध्यान गया है, और उसमें महत्त्व की स्थापना की गई है।

किन्तु आधुनिक युग में जननि व्यक्ति पर तरह-तरह के दबाव हैं उनमें से एक दबाव समाज का भी होता है। उसी प्रकार कलाकार पर भी समाज का दबाव होता है। समाज के दबाव के माध्यम भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। पर क्या सदा ही समाज का दबाव नहीं होता क्या? उसी प्रकार प्रचलित काव्य प्रणाली से अपनी संगति एक अन्य प्रकार का सामाजिक दबाव ही है। हाँ यह सच है कि ये दबाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष होते हैं। जिस प्रकार इनकम टैक्स (प्रत्यक्ष कर व्यवस्था) उपभोक्ता को नहीं खलता उसी प्रकार

समाज के अप्रत्यक्ष दबाव भी सामने नहीं आते, किन्तु बराबर सक्रिय रहते हैं।

उसी प्रकार, वैचारिक आन्दोलन के रूप में भी कई सामाजिक दबाव होते हैं। ये विशेष आग्रहों, अनुरोधों का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार के विशेष आग्रह अनुरोध कभी केवल कलात्मक शब्दावली का रूप भी धारण करते हैं। कला के एक विशेष पटन के आग्रह कला-सम्बन्धी एक विशेष भाव दृष्टि के आग्रह कोई वैचारिक दृष्टि अपनाने के आग्रह लोकोपयोगी कला सृजन करने के आग्रह सब वस्तुत सामाजिक दबाव ही हैं किसी में किसी भाव दृष्टि का आग्रह है तो किसी में किसी पटन का आग्रह।

ये सब दबाव या आग्रह उचित होते हैं यह कहना गलत है उसी प्रकार ये सब अनुचित होते हैं यह कहना भी उतना ही गलत है। उनमें से बहुत से आग्रह न केवल सही वरन पूर्णत उचित हो सकते हैं।

किन्तु आग्रह कर्ता जब एक वातावरण निर्मित करके कलाकार पर दबाव लाना चाहते हैं तो वे यह नहीं देखते कि दबाव का वस्तुत क्या प्रभाव होगा। हाँ यह सही है कि ऐसे बहुतेरे निकल आते हैं जो अपनी अपरिपक्वावस्था के कारण, अथवा विशुद्ध अवसरवादी दृष्टि से प्रेरित होकर दबाव ग्रहण करके, उस दबाव के अनुसार कलाकृति प्रस्तुत करते हैं चाहे घटिया ही क्या न सही। शेष, जो दबाव स्वीकार करना नहीं चाहते, और चाहते हुए भी नहीं पी कर सकते व चुप बैठ जाते हैं अलग हट जाते हैं और तिरोहित होने में ही अपना कल्याण समझते हैं। मेरे खयाल में ये दोनों परस्पर विपरीत प्रतिक्रियाएँ या परस्पर वैपरीत्य सही भी हो सकता है गलत भी। यह विशेष परिस्थिति पर निर्भर है कि कौन सा गलत है कौन सा सही।

किन्तु इन आग्रहों की आधार भूमि इन आग्रहों के मूल स्रोत यदि व्यापक मानवीय सहानुभूति और करुणा से समन्वित हैं यदि किसी व्यापक मानवीय आदर्श से प्रेरित हैं तो यह अनुमान करना गलत नहीं कि उन्हीं व्यापक सहानुभूतियों और व्यापक मानवीय आदर्शों का कुछ-न-कुछ तत्त्व या कुछ न कुछ अंश लेखक भी अपने में आत्मसात किये हुए है। अतएव किसी सामान्य भूमि पर आग्रह कर्ता और लेखक दोनों एकत्र हो सकते हैं बशर्ते कि (और यह बड़ी शर्त है) आग्रह कर्ता महोदय रचना प्रक्रिया में भी सूक्ष्म दृष्टि रखते हों, और उस रचना प्रक्रिया का एक सिरा अर्थात लेखक के हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभव जीवनानुभवों के सामान्यीकरण (ज्ञान) और भाव दृष्टि को दूर समझते हों।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल छायावादी रचना प्रक्रिया को नहीं समझते थे इसलिए उसका विरोध करते रहे। अधिक से अधिक छायावाद को उन्होंने 'अभिव्यक्ति का लाक्षणिक प्रणाली' ही माना। डॉ० रामविलास शर्मा को प्रयोगवादी या नई कविता में 'असुन्दर और विद्रूप' के अधिक कुछ नहीं दिखता। शिवदानसिंह

लोगों को इस बात का भ्रम है कि आज की कविता में कथानक तत्व का लोप हो रहा है। अतएव, ऐसे आलोचकों के आग्रह रचना प्रक्रिया में सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में लादे जा रहे हैं और गलत मालूम होते हैं। कारण यह कि नई प्रवृत्तियों और प्रवृत्तियों की रचना प्रक्रिया में सूक्ष्म-दृष्टि रखने के लिए आलोचकों का संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान आवश्यक है—उस जीवन का, जो नवीन प्रवृत्ति रूप में सामने आया हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके आग्रह उनकी अपनी मान्यता रूप में स्वभावतः गलत हैं, नहीं, वे सही भी हो सकते हैं। किन्तु जब तक वे लादे जाएँगे, रचना प्रक्रिया में सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में वे गलत और निरुपयोगी ही साबित होंगे और अपने आपमें उनके सही होने के बावजूद उनका विरोध होता ही रहेगा।

दूसरी ओर, भले ही कोई लेखक वैचारिक दृष्टि से कोई बाह्य आग्रह स्वीकार कर ले, जब तक उस आग्रह के तत्वों का आभ्यन्तरीकरण नहीं होगा, जब तक अन्तर्जगत के तत्वों में उसका रंग नहीं घुल जाता, जब तक वह हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभवों का एक भाग नहीं बन जाता, तब तक उस आग्रह के अनुरूप रचित साहित्य निष्प्राण और कृत्रिम ही रहेगा। लेखक के लिए मुख्य बात आभ्यन्तरीकरण की है। आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया केवल विचार तक सीमित नहीं है, यह उससे ज्यादा गहरी, व्यापक और मार्मिक है। जब तक लेखक अपने स्वयं के जीवनानुभवों से प्राप्त दृष्टि के रूप में उन्हें नहीं पाता, तब तक आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई, यह समझना चाहिए। सच्चा आभ्यन्तरीकरण तो तब होता है जबकि लेखक ज़िन्दगी में गहरा हिस्सा लेते हुए संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान प्राप्त करके उसी भाव दृष्टि तक स्वयं अपने आप पहुँचता है कि जो भाव दृष्टि आग्रह रूप में बाहर से उपस्थित की गई है।

आग्रह कई प्रकार से उपस्थित होते हैं। कुछ कला के नाम पर, कला की शब्दावली में प्रस्तुत होकर साहित्य जगत का शासन भी करने लगते हैं। कुछ समय तक उनका शासन चलता भी है, लेकिन समाज और राष्ट्र की भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न पीढ़ी कला की शब्दावली में छिपे आग्रहों की निन्दा करती है। उदाहरणतः सन् १९६० के सैटरडे रिव्यू में टा० एस० इलियट के विरुद्ध ज़बर्दस्त आक्रमण के रूप में लिखा हुआ नये कवियों का लेख। महत्व की बात यह है कि जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन के साथ साथ भाव दृष्टि बदलने लगती है और यथार्थ के नये-नये पहलू सामने आते हैं जिन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए उपयुक्त शब्द सम्पदा और परम्परा नहीं होती। लेखक को नये सिरे से प्रयत्न करना पड़ता है। भले ही पुरानी पीढ़ी को नई पीढ़ी के काव्य में कोई सौन्दर्य न दिखाई दे किन्तु नई पीढ़ी को उसमें ही अपना आत्म प्रकाश अंत:हृदय दिखाई देता है। पुराने लेखक आग्रह रूपी अस्त्रों से नयों का वध करने

का प्रयत्न करते ही रहते हैं। मजा यह है कि आग्रह कला और सौन्दर्य के नाम पर होते हैं, फिर भी नवीन प्रवृत्ति वालों को वे स्वीकरणीय नहीं हो पाते।

संक्षेप में यथार्थ परिवर्तनशील होता है। अतएव, आग्रह भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो कला या दृष्टि के नाम पर, परिवर्तन क्रम की पिछली अर्थात् विगत कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं और वे जो परिवर्तन क्रम की अगली कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं। यह अगला या पिछलापन यथार्थ के परिवर्तन क्रम को देखकर पहचाना जाना चाहिए न कि वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता की दृष्टि से। ऐसा मैं क्यों कह रहा हूँ?

यह कहना इसलिए आवश्यक है कि जीवन परिस्थिति में परिवर्तन से और यथार्थ के नये-नये पहलुओं के खुलने से उनके आभ्यन्तरीकरण के द्वारा लेखक का जो संवेदनात्मक व्यक्तित्व इतिहास बनता है वह इतिहास पूर्ववर्ती प्रवृत्ति के कवियों से सर्वथा भिन्न होता है अतएव इस नवीन प्रवृत्ति वाले की रचना प्रक्रिया भी बदल जाया करती है और तदनुसार अभिव्यक्ति शैली भी। अमरीका में आज नवीन काव्य शैली का जो प्रचलन है उसके विरुद्ध पुराने कवियों का आक्रोश सर्वथा स्वाभाविक है। उसी प्रकार नवीन काव्य शैली वालों को अपने अस्तित्व के लिए पुरानों का प्रतिरोध करना पड़ता है। यह विरोध वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता का परिणाम नहीं है वरन् एक काव्य प्रवृत्ति की विशेष पटन को और उसके साथ उसके अन्तर्गत समाये (विगत) जीवन-तत्त्वों को समेटे रखने और स्थायी बनाने का प्रयत्न है। इसके विरुद्ध नये का विद्रोह होना स्वाभाविक ही है। दूसरे शब्दों में, पुरानी पीढ़ी के लोग, नयी पीढ़ी के लोगों द्वारा आभ्यन्तरीकृत जगत और आभ्यन्तरीकरण प्रक्रिया में विकसित भाव दृष्टि और उन दोनों से उत्पन्न अभिव्यक्ति प्रक्रिया, इन सबको असुन्दर, निषिद्ध और बेकार ठहराने का प्रयत्न करते रहते हैं कभी कला और सौन्दर्य के नाम पर कभी आध्यात्मिक आदर्श के नाम पर कभी सामाजिक प्रगति के नाम पर।

इसका अर्थ यह नहीं है कि लेखक, वैचारिक अथवा भावना की दृष्टि से जन विरोधी लोक विरोधी, प्रगति विरोधी हो नहीं सकता। वह बराबर हो सकता है और उसका वैसा होना दिखाई भी देता है। किन्तु किसी लेखक की विचार धारा पर आक्रमण करना एक बात है आभ्यन्तरीकृत यथार्थ की विकृत व्याख्या पर आघात करना एक बात है किन्तु उस पूरी काव्य प्रणाली पर चोट करना एक अलग बात है उस पूरी रचना प्रक्रिया और अभिव्यक्ति शैली पर आघात करना बात ही दूसरी है। जिस प्रकार आदर्श के शब्द व्यापार में नितान्त अवसरवाद और बेईमानी दिखाई देती है उसी प्रकार, यथार्थ के उद्घाटन के नाम पर भी अयथार्थ और कृत्रिमता भी सामने आती है। यह तो विशिष्ट विशिष्ट

लेखक की विशिष्ट विशिष्ट रचनाओं को सामने रखकर ही तय किया जा सकता है।

संक्षेप में लेखक की रचना प्रक्रिया के प्राथमिक और निगूढ़ स्तर अर्थात् लेखक का अन्तर्जगत लेखक के अन्तर्जगत का संवेदनात्मक पुञ्ज, लेखक का समग्र व्यक्तित्व पाठक और आलोचक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है और उसके आकलन के माध्यम से रस ग्रहण होता है। अतएव सबसे अधिक वाद विवाद सबसे ज्यादा बहस इसी को लेकर होती है।

क्यों होती है? इसलिए कि संवेदनात्मक अन्तर्जगत अर्थात् जीवनानुभव रचना प्रक्रिया के दौरान में अपने विशेष संवेदनात्मक उद्देश्यों को लेकर प्रवर्तीण होते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य एक ओर लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व का एक भाग है उसके अनुभवात्मक इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं उसने जो कुछ आत्मसात् किया है जो कुछ पाया और खोया है उससे नाता रखते हैं उसकी विद्यमान जीवन स्थिति और मनोदशाओं से सम्बन्धित रहते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। रचनाओं में प्रकट इन संवेदनात्मक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही कवि के अन्तर्व्यक्तित्व का उसके अनुभवात्मक जीवन का उसकी भाव-दृष्टि का हमें अनुमान होता है। इस प्रकार वे एक ओर अन्तर्व्यक्तित्व को तो दूसरी ओर रचना को एक दूसरे से जोड़ देते हैं।

जीवन में जो कुछ अर्जित है जो कुछ संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के रूप में प्राप्त है अर्थात् जो कुछ विशिष्ट अनुभव हैं और जीवन जगत् सम्बन्धी जो कुछ मार्मिक सामान्यीकरण हैं जो भी जीवन मूल्य आत्मसात् किये हैं, और जिनके लिए संघर्ष किया है जो संस्कार जो आदर्श, जो यथार्थ हृदय का अनन्य अंग हो गया है वह सबका सब स्थिर रूप में व्यक्तित्व का अंग होता है। दैनिक जीवन के दैनिक कार्यों में व्यस्त रहने से हम उस सौंदर्य क्षण से दूर रहते हैं जब मन द्रवित हो जाता है कल्पना सक्रिय होकर चित्र उपस्थित करते हुए हमें जीवन के रस में डुबोने सी लगती है जब हम गहन होकर विस्तृत होने लगते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे क्षण हम अपने अकेले में किसी कमरे [illegible] किसी टेबल के पास मिलें और लगना लेकर बैठने के लिए मजबूर करें। बिलकुल नहीं। दूसरे के जीवन के ये निजी क्षण राह चलते बात करते या कभी-कभी बिलकुल भीड़ में या एकान्त में भी मिल सकते हैं यह भी आवश्यक नहीं है कि ये क्षण हमें अभिव्यक्ति के लिए मजबूर करें। फिर भी ये प्रतिभाव क्षण हैं प्रसादिक क्षण हैं क्योंकि ये सौन्दर्य के क्षण हैं रसात्मक क्षण हैं सौन्दर्य-क्षण हैं। ये क्षण केवल कलाकार को ही प्राप्त नहीं होते ये सामान्य जन को भी प्राप्त होते रहते हैं इन्हीं क्षणों से सहृदय पाठक, आत्माभिव्यक्ति से दूर

रहकर भी, अन्य द्वारा रचित कलाकृति में अपनी अभिव्यक्ति देखता है। ये क्षण मानवता के लक्षण हैं, उस मानवता के—जो व्यक्ति और देश से ऊपर रहते हुए भी प्रत्येक हृदय में समायी हुई है।

स्व से ऊपर उठना, खुद की घेरेबन्दी तोड़कर कल्पना-सज्जित सहानुभूति के द्वारा अन्य के मर्म में प्रवेश करना मनुष्यता का सबसे बड़ा लक्षण है। इस प्रकार की व्यापक और उदार सहानुभूति—कल्पनाशील सहानुभूति मानवता के पिछले इतिहास में, साहित्य और धर्म में कला और संस्कृति में, संस्कार रूप में हमें प्रदान की है। यही नहीं, बुद्धि स्वयं अनुभूत विशिष्टों का सामान्यीकरण करती हुई हमें जो ज्ञान प्रस्तुत करती है उस ज्ञान में निबद्ध 'स्व' से ऊपर उठने, अपने से तटस्थ रहने, जो है उसे अनुमान के आधार पर और भी विस्तृत करने की प्रवृत्ति होती है। भाषा स्वयं सामान्यीकरण में उत्पन्न है। इस प्रकार एक ओर तटस्थ रहकर तो दूसरी ओर अपने से ऊपर उठकर अपने से परे जाकर विस्तार करने की प्रवृत्ति हममें पहले ही से विराजमान रहती है। भावना हमें डुबो देती है और परिचालित करती है संचलित करती है। संवेदनात्मक ज्ञान के आधार पर और ज्ञानात्मक संवेदनाओं के आधार पर हम एक साथ तटस्थ और तन्मय, अपने से परे और निमग्न, अपने से बाहर और अपने अन्दर एक साथ रहते हैं। सहानुभूतिशील कल्पना और कल्पनाशील सहानुभूति हमें आत्म विस्तार के लिए उद्यत कर देती है। संक्षेप में बाह्य और अन्तर का भेद उस समय लुप्त सा हो जाता है।

ऐसे क्षण पर केवल कलाकार का अधिकार नहीं होता, वे सामान्य जनों को भी निरन्तर प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि साहित्य रचा और समझा जाता है। जिस प्रकार बुद्धि विशिष्टों का सामान्यीकरण करती है उसी प्रकार कल्पना भी विशिष्ट का इस प्रकार मनश्चित्र बनाती है कि वह मनश्चित्र सारे तत्सम्मान विशिष्टों का प्रतिनिधि हो जाता है ऐसे मनश्चित्र की प्रातिनिधिकता एक प्रकार का सामान्यीकरण नहीं तो क्या है ! !

किन्तु ये सारी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हमारे सामान्य जीवन में ही चलती रहती हैं। उन्हीं से हमारी भाव सम्पदा बनती है। हृदय में जीवन मूल्यों की संवेदनात्मक स्थिति उन्हीं के कारण है। संक्षेप में निमग्नता और तटस्थता के योग से उत्पन्न आत्म विस्तार हमारे न देखे जाने पहचाने जाने सामान्य जीवन का ही अंग है।

यह सही है कि व्यक्तियों के आत्म वैभव की कोटियाँ होती हैं। कोई आदमी बहुत पढ़ा लिखा होकर भी जड़ हो सकता है और कोई डिग्रीधारी न होकर अत्यन्त परिष्कृत हो सकता है कोई विख्यात पण्डित काव्य और कला के प्रति निःसंज्ञ और जड़ हो सकता है लेकिन कोई बहुत मामूली पढ़ा लिखा उसके प्रति

सहज संवेदनशील हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि 'महान्' आलोचक संवेदनशील हो। मूनिवर्सिटियों के डाक्टरों का जड़ता दयनीय और प्रश्नजनक है। ज्ञान के अहंकार में अज्ञान के अंधकार का कुछ ऐसा धुम्र रूप हम उनमें मिलता है कि लगता है कला और साहित्य की छाती पर बैठे हुए ये टाल हैं।

ऐसे सौंदर्य धारणों, ऐसे मनोवैज्ञानिक धारणा से वंचित अथवा अल्प-समृद्ध दरिद्र जो आलोचक है वह अपने को चाहे जितना बड़ा समझे—साहित्य क्षेत्र का अनुशासक समझे—वह, वस्तुतः साहित्य विश्लेषण के अयोग्य है कला प्रक्रिया के क्षेत्र में अक्षम है भले ही वह साहित्य का 'लिंगर' बनने का स्वांग रच मसीहा बने।

आलोचक के लिए सर्व प्रथम आवश्यक है अनुभवात्मक जीवन ज्ञान जो निरन्तर आत्म विस्तार से अर्जित होता है। खुद की परेशानी में रहने वाले कुर्सी तोड़ मसीहाओं के बूते की यह बात नहीं। मतलब यह कि कला की बहुत सी समस्याएँ केवल अज्ञान के कारण, पैदा की जाती हैं जबकि असल में वे होती नहीं, हो नहीं सकती।

ऐसे लोगों के जो भी विश्लेषण और निर्णय होते हैं वे कलाकार की रचना प्रक्रिया को बिना देखे समझे होते हैं। वह आलोचना जो रचना प्रक्रिया को देखे बिना की जाती है आलोचक के अहंकार से निष्पन्न होती है भले ही वह अहंकार आध्यात्मिक शब्दावली में प्रकट हो चाहे कलावादी शब्दावली में चाहे प्रगतिवादी शब्दावली में।

उपर्युक्त जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया बताई गई वह सामान्य जीवन में ही होती है। वह हमारे अंतर्जीवन को समृद्ध करती है और उसी समृद्धि का एक भाग बन जाती है। कलाकार के अंतर्जीवन का भी वह एक अंग होती है।

संवेदनात्मक उद्देश्य इसी भाव समृद्धि का एक अंग हैं और उसी से उद्‌गत होते है। लेखक के पूरे व्यक्तित्व से समुद्‌गत ये संवेदनात्मक उद्देश्य उसके अनुभवों का विशेष रूप से संकलन करते हुए उन्हें अपनी पूर्ति की दिशा में प्रवाहित कर देते हैं। यह पूर्ति (लेखक कलाकार के लिए) अभिव्यक्ति में होती है। साधारण जन की आत्मपूर्ति की दिशा भिन्न होती है उनके लिए वह सूक्ष्म दृष्टि या मर्म दृष्टि के रूप में अवतरित होती है। और वह उसके संवेदनात्मक जीवन ज्ञान या जीवनानुभूति का अंग बन जाता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित और आत्मपूर्ति की विशेष दिशा में प्रवाहित यह अनुभव पुंज, कल्पना द्वारा विस्तृत और मूर्तिमान हो उठता है किन्तु साथ ही प्रवाहशील भी। अनुभव प्रवाह चित्र प्रवाह में परिणत हो जाता है। संवेदनात्मक उद्देश्यों की प्रक्रिया संवेदना और ज्ञान के योग से कल्पना चित्रों का विभिन्न विधान करती हुई एक ओर बहा देती है। अथवा यों कहिए कि

कल्पना का अपना नाजिक तयार हो जाता है। मन कल्पना की इस स्वाभाविक गति मे घुलता हुआ और उसमे तन्मय होता हुआ, उसके सवेदनात्मक रस का पान करने लगता है। निःसन्देह यह सौदर्य-क्षण है रस क्षण है जिसे कलाकार और सामान्य-जन दोनो प्राप्त करते हैं। जीवनानुभवो के ये सौदर्य क्षण हैं जिनमे कल्पना चित्र स्वय प्रातिनिधिक हो उठते हैं। इसे हम कलात्मक सूक्ष्म-दृष्टि का क्षण भी कह सकते हैं अथवा जीवन के सारभूत यथार्थ का क्षण भी कह सकते हैं।

सवेदनात्मक उद्देश्यो का उत्पत्तिस्थल, उनका उद्गम स्रोत आत्मचरित्रात्मक है। उनके सम्बन्ध-सूत्र कलाकार की मनोरचना से लेकर उसके व्यक्तिगत इतिहास तक मे समाये रहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य मूलत और सारत आत्मचरित्रात्मक है भले ही बाहर बाहर से वह चाहे जितना वस्तुवादी क्यो न दिखाई दे। उसकी यह आत्मचरित्रात्मकता, मुख्यत अभिव्यक्ति के लिए लाए जाने वाले अनुभवो के सवेदनात्मक महत्त्व-बोध मे है। यदि लेखक के पास सवेदनात्मक महत्त्व बोध नही है या क्षीण है तो उन विशिष्ट अनुभवो की अभिव्यक्ति क्षीण होगी।

सवेदनात्मक उद्देश्यो को देख परखकर ही यह पहचाना जा सकता है कि लेखक किस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। एक ओर यदि हम उन्हे देख लेखक के आत्मव्यक्तित्व के सम्बन्ध मे अनुमान कर सकते है तो दूसरी ओर कलात्मक प्रभाव का विश्लेषण भी सवेदनात्मक उद्देश्यो के सन्दर्भ के बिना नही हो सकता।

लेखक जो कि अपनी सवेदनात्मक क्षमता से साहित्य सृजन करता है, वह सवेदनात्मक उद्देश्यो के अनुसार, परिचालित होता है। वह अपनी अभिव्यक्ति का पटन भी सवेदनात्मक उद्देश्यो के अनुसार बनाता है। दूसरे शब्दो मे, सवेदनात्मक उद्देश्य एक ओर आत्मचरित्रात्मक होते हैं तो दूसरी ओर वे एक विशेष प्रकार का कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अभिव्यक्ति या विशेष पटन गूथते हैं तो तीसरी ओर ये सवेदनात्मक उद्देश्य, अपने धक्के से हृदय मे स्थित जीवन अनुभवो अर्थात ज्ञानात्मक सवेदन और सवेदनात्मक ज्ञान को जाग्रत और सवलित करके उन्हे अपनी दिशा मे प्रवाहित करते है। जाग्रत अन्तश्चेतना मे अर्थात् इस प्रक्रिया मे कल्पना उत्तेजित होकर सवेदनात्मक उद्देश्यो के अनुसार अनुभवो के साकार चित्र प्रस्तुत करती जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सवेदनात्मक उद्देश्यो का कार्य प्रारम्भ से लेकर अन्त तक आत्मव्यक्तित्व की विशेषताओ और उसकी हलचलो से लेकर अभिव्यक्ति के अन्तिम पटन तक होता है। यह सवेदनात्मक उद्देश्य आत्मव्यक्तित्व और आभ्यन्तरीकृत जगत का प्रतिनिधित्व करते हुए जाग्रत और सवलित अनुभवो को मनःपटल पर एक के बाद एक मूर्तिमान करते हुए आगे बढ चलता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों को देखकर लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व रचना के अन्तर्गत जीवन-तत्त्वों की ओर उनकी अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। प्रयोगवादी कविता के संवेदनात्मक उद्देश्यों को न समझने के कारण ही, उसके सम्बन्ध में बहुत सी भ्रान्तियाँ फैलाई गईं। उसे या तो राजनीतिक रूप से प्रतिक्रियावादी कहा गया या भारतीय संस्कृति के संदेश उसकी आत्मा के प्रतिकूल। होना तो यह चाहिए था कि संवेदनात्मक उद्देश्यों को समझकर उन संवेदनात्मक उद्देश्यों को जाग्रत करने वाली जीवन भूमि का विश्लेषण करते हुए उन संवेदनात्मक उद्देश्यों की सच्ची मानवीयता—उन रचनाओं की सहज मानवीयता को हृदयंगम किया जाता। लेकिन इस प्रकार की कविताओं को एकदम असुन्दर, प्रतिक्रियावादी विद्रूप या निषेधात्मक कहकर टरका दिया गया। आलोचना का उद्देश्य इस काव्य प्रवृत्ति को समझना नहीं था वरन उससे संघर्ष करके उसे नष्ट कर देना था।

लगभग ऐसे ही उद्देश्य से परिचालित होकर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद का विरोध किया। उन्होंने जब छायावाद से समझौता भी किया तो उसे अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली कहकर छुट्टी पाई। लेकिन यह नहीं देखा कि आखिर लेखक इस प्रकार की प्रणाली को क्यों अपनाना चाहता है या यों कहिए कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति प्रणाली आखिर कवियों के लिए क्या स्वाभाविक हो उठी।

कहने का तात्पर्य यह कि अभिव्यक्ति की प्रणाली बदलते ही आलोचकों की नाड़ी छूटने लगती है। मुझे इस बात का गहरा संदेह है कि इसका कारण यांत्रिक बुद्धि है। अपनी अपनी थियरीज़ और सिद्धान्तों के कटघरे में किसी नई प्रवृत्ति को न फँसते देखकर उस नई प्रवृत्ति को ही निन्दित किया गया, न कि उन सिद्धान्तों को बदला अथवा उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अब तक उनकी अपनी जो समझ थी उसमें परिवर्तन किया। उन्हें अपने अपने बौद्धिक मानसिक ढाँचों की ज्यादा फिक्र थी किन्तु नई प्रवृत्ति के जीवन तथ्यों की नहीं।

संवेदनात्मक उद्देश्य विद्युत की वह धारा है जो अन्तर्व्यक्तित्व से प्रसूत होकर जीवन विधान करती है, कला विधान करती है, अभिव्यक्ति विधान करती है। आत्मचरित्रात्मक और सृजनशील ये संवेदनात्मक उद्देश्य हृदय में स्थित जीवन्त अनुभवों को संकलित कर उन्हें कल्पना के सहयोग से उद्दीप्त और मूर्तिमान करते हुए एक ओर प्रवाहित कर देते हैं। यह कला का प्रथम क्षण है या कहिए सौन्दर्य प्रतीति का क्षण है। यह क्षण सामान्य जन को भी प्राप्त होता रहता है।

किन्तु कला का द्वितीय क्षण तब उपस्थित होता है जब लेखक में शब्द

सवेदनाएँ जाग्रत होकर वह विषय-तत्वो को व्यक्त करने लगता है। यह क्षण दो कारणो से महत्त्वपूर्ण है। एक तो इसलिए कि अब शब्द सवेदनाएँ और भाव सवेदनाएँ दोनो एक-दूसरे से सन्तुलित होने लगती है, बल्कि इसलिए भी कि लेखक का मन दशक और भोक्ता—इन दो के बीच म केवल विभाजित ही नही होता वरन् अब दशक केवल निष्क्रिय नही रहता वल्कि सक्रिय हो जाता है और साथ ही वह विषय-तत्त्व के मनोरूपो को व्यक्त करने का प्रयास करने लगता है। सक्षेप म अब यह दशक एक क्रियावान शक्ति बन जाता है। किन्तु उसकी क्रिया मनोरूपो के सम्बन्ध म होने से एक विशेष परिस्थिति निर्मित हो जाती है। वह परिस्थिति इस प्रकार है।

न केवल अन्तर का द्विधा विभाजन होता है वरन यह कि इस दशक मन को शब्दाभिव्यक्ति म देर लगती है फलत उस सवेदनात्मक उद्देश्या के अनुसार प्रवाहित होने वाले मनोरूपो की गति को थाम लेना या मन्द करना पडता है, उसे सयमित करना पडता है। इस बीच शब्द सवेदनाएँ जाग्रत होकर अपना काय मनोनुकूल पूरा कर चुकती हैं कि इस बीच कभी कभी सम्भवत सवेदनात्मक उद्देश्यो से परिचालित मनोरूपो की गति ही लुप्त हो जाती है और रचित शब्दा वली का भावाथ भी पूरा नही हो पाता।

मेरा मतलब तटस्थता और तन्मयता से है। यदि दशक मनोरूपो की गतियो से इतना निर्लिप्त है कि वह शब्द सवेदनाओ मे खो जाता है और मनोरूपा की गति जड हो जाता है तो एसी निर्लिप्तता भी उसकी काम की नही होती और यदि वह उन मनोरूपो की गतियो म पूणत विलीन हो जाता है तो शब्दसवेदनाओ के लिए अवकाश की हीनता के फलस्वरूप अभिव्यक्ति निबल अथवा दुरूह हो जाती है। अतएव उसे मनोरूपो की गतियो को प्रवाहित करने वाले सवेदनात्मक उद्देश्या से एकाकार होकर साथ ही उन मनोरूपो का मजा लेते हुए उनकी गतिया को आत्मसात करते हुए चलना पडता है। दूसरे शब्दो म उसे अनवरत रूप मे एकीभूत स्थिति और द्विधा रूप स्थिति कायम रखनी पडती है।

किन्तु केवल इतना ही नही होता। शब्द-सवेदनाओ और भाव सवेदनाओ की परस्पर तुलना से अगीकृत अभिव्यक्ति के फलस्वरूप रचना का जो अश तयार हो जाता है वह स्वय एक फोस, एक शक्ति बन जाता है और यदि अनुभवात्मक सवेदनाएँ (विषयभूत मनोधाराएँ) क्षणमात्र लुप्त भी हुई, तब भी शब्दात्मक वह रचना खण्ड स्वय उसे अगला माग सुझा देता है।

शब्द सवेदनाओ को प्राप्त करते हुए लेखक जाने अनजाने अपना मूल भाव सम्पत्ति और मनोधारा म भी परिवतन करता रहता है। शब्द-सवेदनाएँ नवीन associations को जाग्रत कर देती हैं। फलत वह मूल मनोधारा यदि इस

प्रकार से इन associations को प्राप्त करके समृद्ध हो जाता है तो दूसरी ओर उसका—उस मनोधारा का स्वयं का मूल रूप स्वरूप बहुत कुछ बदलता जाता है। यह महत्त्व की बात है। प्रारम्भिक स्फूर्ति ने जो तत्त्व विधान और रूप निर्धारित किया था वह परिवर्तित होता रहता है।

बुद्धि का कार्य यहीं उपस्थित होता है। उसे कार्य निर्वाह करना पड़ता है। मूल मनोधारा ने अपने आवेग में रूपमय तत्त्वों को जाकर गढ़ा कर लिया कल्पना को उद्दीप्त कर लिया और संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में उसे प्रवाहित कर दिया। किन्तु शब्द-साधना के समय नवीन भावात्मक अनुषंग नवीन अनुभव उपस्थित होते हैं। वे मूल्यवान होने पर उन्हें जान अनजाने आत्मसात कर दिया जाता है। यहाँ संवेदनाएँ लगातार कार्य करती रहती हैं। उनकी चोट होती रहती है। मूल मनोधारा में बहुत कुछ परिवर्तन अर्थात् संशोधन होता जाता है। यह संशोधन किस प्रकार का होता है।

असल में, शब्दाभिव्यक्ति के समय लेखक मनोधारा के अन्तर में और भी अधिक प्रवेश करता है। उसके लिए वह अधिकाधिक तत्त्व-साक्षात्कार का और आत्म-साक्षात्कार का काल है। एक प्रकार से वह उसके आत्म निर्माण का भी काल है। शब्दाभिव्यक्ति तो केवल उसका एक माध्यम है। संवेदनात्मक उद्देश्यों की तीव्रता पर वह निर्भर करता है कि कहाँ तक वह आगे बढ़ेगा। संवेदनात्मक उद्देश्यों की तीव्रता के अभाव में—अर्थात् प्रेरणा के अभाव में उसकी रचना बहुत आगे बढ़ नहीं पाती। वह खण्डित हो जाती है अथवा उसे जस-तस करके वह निबटा देता है उसका तत्त्व—साक्षात्कार—आत्म साक्षात्कार छिछला और पतला विरल और तुच्छ होता है।

किन्तु लेखक के पास यदि उतनी प्राण शक्ति है तो निःसन्देह अब तक निर्मित शब्दात्मक रचना की सहायता से अपना अगला कदम भी देख लेता है। जीवन अनुभवों में डूबी हुई उसकी बुद्धि रचना के संवेदनात्मक उद्देश्य से एकाकार होकर आगे का पथ प्रशस्त करती है। फलतः कार्य निर्वाह होता चलता है। यह बुद्धि संवेदनात्मक उद्देश्य के अनुसार, शब्द योजना और अभिव्यक्ति निर्माण में एक सम्पादक का संशोधक का काम करती है तो दूसरी ओर वह संवेदनात्मक ज्ञान और भावात्मक संवेदनाओं को लक्ष्य में रखकर उनसे अनुप्राणित होकर आगे बढ़ती है। यह बुद्धि जीवन तत्त्व में, जीवन यथार्थ में प्रवेश करने वाली बुद्धि है। वह एक साथ कई कार्य करती है। भाव यात्रा में ठीक दिशा को वह सूचित करती रहती है संवेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण जीवन अनुभवों में सूक्ष्म दृष्टिफल को वह सामान्यीकरण का रूप देती चलती है। तीसरी ओर अभिव्यक्ति निर्माण में वह सम्पादक-संशोधक का काम भी करती है अतएव वह

रूप रचना म भी सहायक होना रहती है।

इस प्रकार हम देखत हैं कि द्विधा विभाजित मन की प्रक्रिया मे तटस्थता नामक जो एक आत्म स्थिति पदा हो जाती है वह तटस्थता नामक आत्मस्थिति एक क्रियावान शक्ति है और क्रिया मे गतिमान होन के लिए ही उपस्थित रहती है।

मार्क्सवादी साहित्य का सौन्दर्य-पक्ष
एक प्रत्युत्तर[1]

मार्क्सवादी साहित्य का सौन्दर्य पक्ष शीर्षक के अन्तर्गत लिखते हुए मेरे मित्र गोरखनाथजी ने जो विचार व्यक्त किये हैं उनसे सहमत होना मेरे लिए मुश्किल हो गया है।

गोरखनाथजी के लेख से यह जान पड़ता है कि वर्तमान चीनी साहित्य में व्याप्त जन मंगल भावना से उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। यह शुभ संकेत है। इस बात में मैं उनके साथ हूँ कि वह साहित्य जन मंगल की भावना से अनुप्राणित होने के अतिरिक्त अधिक कलात्मक भी है।

किन्तु इसके आगे मेरे लिए उनसे सहमत होना मुश्किल हो रहा है। वे कहते हैं कि आये दिन चीन में पाठकों की बेतहाशा वृद्धि और विस्तार के साथ साथ नये लेखकों की जो एक बेशुमार भीड़ आगे बढ़ रही है उससे मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा के परिपोष के लिए खतरा है। खतरा शब्द का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है उनके कहने का तात्पर्य लगभग यही है। यू येन नामक चीनी लेखक ने नये लेखकों की इस बेशुमार भीड़ के विरुद्ध यह जो स्थापना की कि इस भीड़ के कारण कलात्मक सौष्ठव की रक्षा नहीं हो रही है और कला हीन साहित्य उत्पन्न हो रहा है—इस स्थापना के समर्थन में गोरखनाथजी ने अपने लेख में दूसरे प्रश्न भी उठाये हैं।

सबसे पहले तो मैं यह कहना चाहूँगा कि प्रत्येक युग में साहित्य को नये विषय प्राप्त होते हैं। सचमुच युग ही विषयों का संकलन करता है। साहित्य विषयों से युग का आवयविक सम्बन्ध है। किसी युग विशेष में विशिष्ट विषयक्षेत्र

१ वसुधा मार्च ६ के अंक में श्री गोरखनाथ ने चीनी साहित्य के सम्बन्ध में यह स्थापना की थी कि आज मार्क्सवादी साहित्य सौन्दर्य-पक्ष की अवहेलना करता है। यह निबन्ध उक्त लेख का प्रत्युत्तर है।

आवृत्त और पुनरावृत्त होते हैं। उन विषयों के प्रति लेखक-गण जो दृष्टिकोण विकसित करते हैं उनमें भी बहुत सी मूलबद्ध समानताएँ होती हैं।

आज चीनी साहित्य में जो विषय प्रचलित हैं वे उस देश के युग के अनुरूप ही हैं। ये विषय सामान्य जनता के अतिशय निकट हैं इसलिए कि वे उन्हीं के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। विषयों की इस अतिशय निकटता के फलस्वरूप आज वहाँ की सामान्य जनता साहित्य-क्षेत्र में सक्रिय हो उठी है। साहित्य क्षेत्र में सामान्य जनता तभी सक्रिय हो उठती है जब उसमें कोई व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन चल रहा हो—ऐसा आन्दोलन जो उसके आत्म गौरव और आत्म गरिमा को स्थापित और पुनःस्थापित कर रहा है। किसी जमाने में हमारे भारत में भी (भिन्न परिस्थितियों में ही क्यों न सही) ऐसा ही हुआ था। दलित पीड़ित और गरीब वर्गों के लोग साहित्य क्षेत्र में सक्रिय हो उठे थे। हमारे भक्ति आन्दोलन के पूर्वार्ध का स्मरण कीजिए। उस समय भी शास्त्री-कलाकारों और पण्डित कवियों ने उनका विरोध किया था, क्योंकि साहित्य सौंदर्य के उनके मानदण्डों के अनुसार गरीब लोगों का वह साहित्य तुच्छ और विद्रूप था।

आज चीन में मुक्ति के वातावरण में, जनता साँस ले रही है और वह अपने देश के पुनर्निर्माण में लगी है। उस देश में आज जो युग है उसके अनुसार वहाँ के साहित्य विषय हैं। ये साहित्य विषय जनता के अत्यधिक निकट होने से तथा उसी के वास्तविक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण वह (जनता) स्वयं अब साहित्य क्षेत्र में सक्रिय हो उठी है और वहाँ के जन क्षेत्र व्यापक सांस्कृतिक सामाजिक आन्दोलन से अनुप्राणित हो उठे हैं। इस सांस्कृतिक आन्दोलन की एक अभिव्यक्ति के रूप में, स्वयं जनता के हाथों से गढ़ा हुआ, नया साहित्य प्रस्तुत हुआ है। चूँकि जनता स्वयं साहित्य तैयार कर रही है इसलिए लेखकों की बेशुमार भीड़ होना स्वाभाविक ही है। साथ ही यह भी स्वाभाविक है कि जनता द्वारा उत्पन्न सारा का सारा साहित्य, वस्तुतः उच्चकोटि का न हो।

इस साहित्य का कलात्मक स्तर और ऊँचा उठाने का क्या उपाय है? क्या इसका उपाय यह है कि उन लेखकों को साहित्य प्रकाशन की सुविधा दी जाय, अथवा यह कि उनका लेखन-कार्य निषिद्ध ठहराया जाय, अथवा यह कि जनता में जो सांस्कृतिक आन्दोलन चल रहा है उसमें सक्रिय भाग लेकर लेखकों की रचनात्मक आलोचना की जाय?

आलोचक का कार्य केवल गुण-दोष विवेचन ही नहीं है वरन् साहित्य का नेतृत्व करना भी है। आलोचक का धर्म साहित्यिक नेतागिरी करना नहीं है वरन् जीवन का ममज्ञ बनना और उसी विशेषता की सहायता से कला समीक्षा करना भी है। साहित्य-नेतृत्व करने के लिए तो जीवन ममज्ञता की और भी अधिक आवश्यकता है। संक्षेप में, सामान्यतः जनता के और विशेषतः जनता के बीच से आय

हुए लेखकों के शैक्षणिक सांस्कृतिक स्तर तथा उनके कलात्मक-स्तर और भी अधिक विकसित करना आवश्यक है।

यह कार्य मुख्य है। यदि इस कार्य को लक्ष्य बनाकर कू येन द्वारा आलोचना की गई होती और उस आलोचना में कलात्मक स्तर के विकास के उपायों को निर्देशित किया गया होता तो बात अलग था। किन्तु लेखकों की बाढ़ से मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा को खतरे का नारा देकर जो आलोचना की जायगी वह न केवल निरर्थक और असंगत होगी वरन् वह उस व्यक्तिवाद को सूचित करेगी कि जो व्यक्तिवाद जनता को ढोर समझता है मूर्ख समझता है।

यह सही है कि साहित्य रचना में प्रतिभा का बहुत बड़ा स्थान होता है। किन्तु वास्तविक प्रतिभावान कौन कहाँ तक है इसका निर्णय महान् उपलब्धियों के पूर्व नहीं, पश्चात् होता है। पूर्वतर स्थिति में तो सभी लेखक गुणवान् होते हैं। सच तो यह है कि समय की कसौटी पर जिस लेखक का साहित्य खरा उतरेगा वही प्रतिभावान कहलायेगा।। लेकिन क्या इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम सभी को लिखने दें ऐसों को भी कि जो पेशेवर साहित्यिक नहीं हैं।

हिन्दी साहित्य में पेशेवर साहित्यिकों के कारण, जीवन का वैविध्य प्रकट नहीं हो पाता। जिन्दगी के असली तजुर्बे नहीं आ पाते और वे जीवन मूल्य स्थापित नहीं हो पाते कि जिनके लिए साधारण व्यक्ति संघर्ष करता है। साहित्य में जीवन के उत्पन्न प्रतिबिम्ब अपनी सम्पूर्ण निस्संकुचता के साथ उतर नहीं पाते। पेशेवर साहित्यिकों में जो साहित्यिक योग्यता है यदि वह सचमुच योग्यता होती—तो देश का कल्याण हो जाता।। सच तो यह है कि ऐसी योग्यता—जिसमें मानव प्रेरणा न हो जिसमें लोक कल्याण के लिए त्याग की भावना न हो जिसमें जन-जीवन की अन्तर्धाराओं को देखने की दृष्टि न हो—ऐसी योग्यता निरर्थक है।

इसका मेरा यह मतलब नहीं है कि मैं वास्तविक साहित्यिक योग्यता का अनादर कर रहा हूँ। यह योग्यता किसानों में भी हो सकती है गरीब मध्यवर्ग में भी मजदूरों में भी। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि साहित्यकारों द्वारा अनुमोदित और सम्मानित होकर साहित्यिक बनना आवश्यक है। जिस देश में साहित्यकारों का स्तर इतना कम होता है वह देश भयानक विषमताओं से पीड़ित होता है यह निश्चित है। साहित्यकारों के वर्ग में भी वास्तविक प्रतिभावान साहित्यिक बहुत थोड़े होते हैं।

किन्तु अन्ततः में हर लेखक को यह अधिकार है कि वह लिखे। उसकी रचना यदि सम्पन्न होती है तो उसके प्रकाशित होने में कोई रुकावट न हो। होना चाहिए। पाठक व जनता की अभिरुचि बनना यदि सामान्य कोटि की रचना करती है तो इसका कारण यह है कि समाज में संस्कृति का वहाँ इतना अधिक विकास

नहीं हुआ है जितना कि अन्य देशों में सदियों से चली आ रही पूँजीवादी व्यक्तिवादी संस्कृति का। संक्षेप में, साहित्य का वहाँ एक नये आधार पर विकास हो रहा है। उसके सम्पूर्ण उत्कर्ष के लिए समय लगेगा।

ध्यान दीजिए उस जमाने पर जब हमारे यहाँ भारतेन्दु युग था। तब हमारी कृतियों का क्या साहित्यिक-स्तर था? जब खड़ी बोली में बड़े पैमाने पर कविताएँ लिखना शुरू हुआ, तब ब्रजभाषा वालों ने 'कलात्मकता' के नाम पर ही उसका विरोध किया। जब प्रयोगवादी कविता शुरू हुई तब कलात्मक स्तर के नाम पर भी उसकी भीषण आलोचना की गई। ऐसी स्थिति में किसी नयी प्रवृत्ति का जो प्रारम्भिक चरण होता है, वह आपेक्षिक रूप से, तथा पिछली उपलब्धियों की तुलना में अविकसित और अपुष्ट ही होता है।

ऐसा नयी प्रवृत्तियों का प्रत्येक विरोधक उस प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित रचनाओं में से जो अति साधारण या हीन कोटि की होती है उन्हें ही लक्ष्य में रखकर, उन प्रवृत्तियों की नवीन उपलब्धियों की ओर ध्यान देते हुए, उस प्रवृत्ति का विरोध करता है तथा पिछली स्वदेशिक प्रवृत्तियों की अथवा वर्तमान विदेशिक प्रवृत्तियों की उपलब्धियों का उदाहरण सामने रखकर, ऐसी वर्तमान स्वदेशिक प्रवृत्तियों की आलोचना करता है जिनका अभी पूर्ण विकास और उत्कर्ष नहीं हुआ है। ऐसे विरोध का एकमात्र उद्देश्य नयी प्रवृत्ति को हतोत्साह करना है।

रूस, फ्रांस, ब्रिटेन अमरीका बहुत बड़े देश हैं। वहाँ अनगिनत पत्र पत्रिकाएँ हैं और उनमें लिखने वाले लेखक अनगिनत हैं। ऐसी स्थिति में वहाँ लेखकों में गहन स्पर्धा है। अच्छे लेखकों को भी जरा देर से मान्यता मिलती है। फिर भी, उस स्पर्धा की परीक्षा में गुजरकर सफल होने वाला साहित्य अपने प्रभावोत्पादक गुणों के कारण ही, न केवल उन देशों में वरन विदेशों में भी—अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर यशस्वी हो उठता है। वहाँ की 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' को लेखकों के अनगिनतपन से डर नहीं लगता। तो ऐसी स्थिति में, चीन में सामान्य लेखकों के अनगिनतपन द्वारा 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' वालों को खतरा क्यों महसूस होना चाहिए?

निष्कर्ष—(अ) मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा वालों को वस्तुतः यदि कोई खतरा है तो अपने भीतर से है बाहर से नहीं। यदि उनकी प्रतिभा सचमुच मौलिक तथा विशिष्ट है तो अपने प्रभावोत्पादक गुणों के फलस्वरूप वह स्वयं उदाहरण-स्वरूप बन जायगी, यहाँ तक कि वह किसी उज्ज्वल परम्परा को जन्म देगी। यदि वह मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा के नाम पर पनपने वाला मात्र एक साहित्यिक अहंवाद है तो इतिहास उससे वैसा व्यवहार करेगा।

(ब) कोई भी नई साहित्यिक प्रवृत्ति साधारणतः शुरू में अपरिपक्व ही होती है। उस साहित्यिक प्रवृत्ति की व्यापक अपरिपक्वता की भर्त्सना करने के बजाय,

उसके अधिकाधिक विकास में योग देकर उसे अधिक परिष्कृत करने का भार अपनाता है।

(ग) चीन का नया सांस्कृतिक साहित्यिक आन्दोलन जनता की अपनी चीज है। जनता के सामान्य प्रदीप प्रयोगों में से ही नई सम्भावनाओं का आविर्भाव होगा।

यह कहा जाता है कि चीन में आज जो सारा साहित्य उत्पन्न हो रहा है उसमें कलात्मकता का एकान्त अभाव है। इसके विपरीत यह कहा गया है कि चीन में पिछले दस वर्षों के अन्दर कुछ स्मरणीय उपलब्धियाँ भी दिखाई देती हैं। मगर उनको लिखा गया अनुभूति के स्तर न हो, मात्र प्रचार माना और वह निष्प्राण प्रतीत हो, तो यह कहा जायगा कि देखने वालों को उस साहित्य के मूल मानवीय उत्सवों से कोई सहानुभूति नहीं है।

दूसरे, यह बात भूलने की नहीं है कि साधारण लेखक वर्ग बहुधा सक्षम पाठक-वर्ग होता है जो अभिव्यक्ति की अभिलाषा के कारण लेखक रूप में परिणत हो जाता है। साहित्य प्रयासों द्वारा पाठक स्वयं साहित्य सक्षम बनता है। ऐसी स्थिति में इस व्यापक लेखक वर्ग के रूप में जो एक विशाल प्रबुद्ध पाठक वर्ग है उसका साहित्य के विकास में बहुत बड़ा योग होता है। चीन के मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा वालों को यह योग प्राप्त है—बशर्ते कि वे उसको स्वीकार करें किन्तु यदि वे अपनी उच्चतर स्थिति के शिखर से उठकर उन समतलवासियों को अवहेलना की दृष्टि से देखें तो इसके लिए कोई क्या करे। सौंदर्यवाद के नाम से प्रचलित व्यक्ति बद्धता की जो एक प्रवृत्ति है उसे हम उस सौन्दर्यवाद से अलग करके देखते हैं जिसका सम्बन्ध व्यापक प्रभावोत्पादकता के साहित्यिक गुण से है। अतएव हम कलात्मकता के उन समर्थकों के साथ हैं जो वस्तुतः समर्पित भाव से जनता में से आये हुए लेखकों के कलात्मक स्तर को ऊँचा उठाने की तत्पर बुद्धि रखते हों तथा अपने स्वयं की साहित्य रचना द्वारा वास्तविक कलात्मकता का मार्ग प्रशस्त करते हों, किन्तु हम कलात्मकता के उन समर्थकों के विरुद्ध हैं जो जनता में से आये हुए लेखकों की आपेक्षिक अपरिपक्वता का निदर्शन प्रदर्शन केवल इसलिए करते हैं कि उनके साहित्यिक शिखरवाद की अर्थात् व्यक्तिवादी सांस्कृतिकता की रक्षा हो। साहित्य क्षेत्र में सौंदर्यवाद और कलात्मकतावाद की ऐसी एक प्रवृत्ति रही है जिसने लेखकों को सामान्य जन अनुभव से अलग कर दिया है। ऐसी स्थिति में जब गोरखनाथजी मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा को अनतिशिक्षित और अनतिसंस्कृत साधारण लेखकों के कंट्रास्ट में—विरोधात्मक भूमिका में रखना चाहते हैं तो मेरे मन में वैसी शंका उठना स्वाभाविक ही है।

गोरखनाथजी ने कहा कि इस देश में आज टाल्स्टाय जैसे लेखक पैदा क्या

नही होते ! ! उनके कहने का तात्पय यह है कि पूजीवादी-समाजवादी समाज रचना के अनन्तर रूस म जो एक उच्चतर समाजवादी समाज रचना स्थापित हुई तो साहित्य को भी उसी हिसाब से नये समाजवादी युग म श्रेष्ठतर होना चाहिय था। मुझे लगता है कि उनका आशय उपयुक्त ही है यद्यपि वह कुछ प्रच्छन्न है।

साहित्येतिहास का विद्यार्थी यह जानता है कि युग परिवतन के साथ ही, साहित्य-क्षेत्र म जो नये विषय अवतीण होते हैं उनकी गहन कलात्मक अभिव्यक्ति दीघ साधना का फल होती है। यह साधना एक व्यक्ति या एक पीढी की नही वरन कई पीढियो द्वारा की गई होती है। जब उन विषयो को लेकर कई पीढियाँ खप जाती है तब कही कला निलगण उत्कष को प्राप्त होती है जसे कि वह टाल्स्टाय के साहित्य म दिखाई पडी। इसका अथ यह नही है कि रूस का क्रान्ति उत्तर साहित्य श्रेष्ठ नही है। दुनिया के कई बडे-बडे लेखक देशो के साहित्य से वह आज भी सफलतापूवक मुकाबला कर सकता है। उस साहित्य का प्रभाव यूरोप और अमरीका के विभिन्न क्षेत्रो म स्पष्टत परिलक्षित होता है। मक्सिम गार्की को हम छोड भी दें तब भी उसके अनन्तर अलक्जी टाल्स्टॉय शोलोखाव आस्ट्रोवस्की, बाबा वासिलेवस्की, मायकोवस्की, वेरा पेनोवा गेलिनिना निकोलेवस्की त्वारदोवस्की, पास्तॉवस्की एलेकजण्डर गोचेर, लिओनिद लिओनोव, विश्वख्याति प्राप्त कर चुके हैं। फिर भी यह नि सकोच रूप से कहा जा सकता है कि भूतकाल के शिखरो की तुलना म रूस म आज का साहित्य अपनी सम्पूण उच्चता का अभी नही पहुचा है।

किन्तु, क्या ब्रिटेन अमरीका या फ्रास का आज का साहित्य उनके पूवतर शिखरो की तुलना म तुगतर और उच्चतर है ? क्या फ्रासीसी साहित्य न उत्तरोत्तर उत्कष की सीढिया पर चढते हुए राम्यारोला को बहुत पीछे छोड दिया ? यह विवादास्पद विषय है। मैं पूछना हूँ कि छायावाद और प्रगतिवाद के अनन्तर, प्रयोगवादी कविता ने अपने पूवतरो से उज्ज्वलतर उच्चतर सफलताएँ प्राप्त की ? यदि नही तो इसका अथ यह है कि हमारी विचार धारा म कोई खामी है या खामी विचारधारा म न होकर किसी और जगह है।

गोरखनाथजी चीन के साहित्य को लेकर साम्यवादी जगत् के साहित्य पर उतर आते हैं, और फिर उस साहित्य की तथाकथित श्रीहीनता का दोष मार्क्सवाद के मत्थे मढने की कोशिश करते हैं।

अमरीका, फ्रास, ब्रिटेन भारत आदि सभी देशो मे साहित्यिक लेखन खूब ही होता है। सामान्य श्रेणी का साहित्य, सख्या की दृष्टि से बहुत होता भी है। किन्तु हम उन उन देशो के साहित्य की सफलता, सिफ चोटी के कलाकारो म ही देखते है। हम अमरीकी साहित्य की श्रेष्ठता को सिंक्लेअर लेविस, अपटन

सिन्क्लेयर, एज़रा पाउण्ड, हेमिंग्वे आदि कलाकारों के साहित्य से ही मापता है। तो यही सुविधा हम रूसी तथा चीनी साहित्य की श्रेष्ठता का मापन के लिए उनके चोटी के कलाकारों को हो क्यों न दें। क्या हम रोज़मर्रा धड़ल्ले से छपने वाले अमरीकी साहित्य से उस देश के साहित्य की श्रेष्ठता का मापन करें? कतई नहीं!! तो हम इस ओर साम्यवादी देशों में धड़ल्ले से छपने वाले साहित्य के स्तर की अति साधारणता को ध्यान में रखकर उसे दरिद्र क्यों कहें? क्यों न हम उनकी सर्व-स्वीकृत उपलब्धियों की उच्चता मापकर उस साहित्य की श्रेष्ठता स्वीकार करें?

आश्चर्य की बात यह है कि एक ओर गोरखनाथजी मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा की दुहाई देते हैं किन्तु वे उन प्रतिभाओं की ओर ध्यान नहीं देते जिन्होंने उन उन देशों के साहित्य का सिर ऊँचा किया। वरन् वे यह सूचना देते से प्रतीत होते हैं कि जन मंगल की भावना से प्रेरित साम्यवादी साहित्य प्रचारात्मक है अर्थात् दूसरे शब्दों में वह कलाहीन है, श्रीहीन है, अनुभूति प्रवण नहीं है। साम्यवादी जगत में सबसे अधिक विकसित साहित्य रूस का है। क्यों न वे उस साहित्य को देखकर यह ठहरायें कि मार्क्सवाद साहित्य को किस ऊँचाई पर ले गया। मार्क्सवाद मनुष्य को कृत्रिम रूप से बौद्धिक नहीं बनाता है, वरन् उसे ज्ञानालोकित आदर्श प्रदान करता है। मार्क्सवाद मनुष्य की अनुभूति को भावनात्मक प्रकाश प्रदान करता है। वह उसकी अनुभूति को बाधित नहीं करता वरन् बोधयुक्त करते हुए उसे अधिक परिष्कृत और उच्चतर स्थिति में ला देता है। संक्षेप में, मार्क्सवाद का मनुष्य की संवेदन क्षमता से कोई विरोध नहीं है, न हो सकता है।

गोरखनाथजी ने मार्क्सवाद से सम्बन्धित सौन्दर्य शास्त्र की बात उठायी है। उनकी बातों से कुछ ऐसा जान पड़ता है कि मार्क्सवादी साहित्यिक विचारकों ने सौन्दर्य शास्त्रीय प्रश्नों पर या तो विचार नहीं किया है और यदि किया भी है तो वह विचार सतही ढंग से हुआ है। उनके विचार में शायद यही कारण है कि मार्क्सवादी साहित्य कला में प्रचारात्मकता अधिक और सौन्दर्य-तत्त्व कम होते हैं। इसलिए गोरखनाथजी का अनुरोध है कि मार्क्सवादी साहित्य विचारक सौन्दर्य शास्त्रीय प्रश्नों पर और गहराई से विचार करें।

इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि मार्क्सवादी साहित्य विचारकों ने सौन्दर्य सम्बन्धी प्रश्नों पर विस्तृत रूप से विचार किया है। रूस में इन प्रश्नों पर विशेष चिंतन हुआ है। जिस देश में उज्ज्वल साहित्य की एक विशाल परम्परा हो, उस देश में सौन्दर्य शास्त्रीय प्रश्नों पर विचार होना स्वाभाविक है। उनके तत्सम्बन्धी विचार हमारे लिए बहुत कुछ उपादेय हैं। हमने भी साहित्य शास्त्र के अंतर्गत कई समस्याओं पर बहुत कुछ चिन्तन किया है। मेरा अपना खयाल

है कि हमारे तत्सम्बन्धी विचार भी उनके लिए उपादेय हो सकते हैं। एक तो बड़े बड़े कलाकारों ने स्वयं ही कलात्मक सौंदर्य के सम्बन्ध में मूल्यवान विचार प्रकट किये हैं। चूंकि वे विचार अनुभव प्रसूत हैं इसलिए उनका अपना एक विशेष महत्व है। तुर्गनेव टाल्स्टाय और मक्सिम गोर्की से लेकर इलिया एहरन बर्ग और पास्टॉरस्की तक ने इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। एहरेनबर्ग के लेख काफी प्रसिद्ध हो चुके हैं। उसी प्रकार पास्टानस्की की 'गोल्डन फ्लॉवर' नामक पुस्तक अत्यन्त पठनीय है। इसके साथ ही समय समय पर 'सोवियत लिटरेचर' नामक मासिक पत्र में, तत्सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार प्रस्तुत होते हैं। उनसे बहुत कुछ जाना सीखा जा सकता है। खेद है कि सौंदर्य शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ उत्तमोत्तम पुस्तकें रूसी जबान में धरी रह जाती हैं और वे अंग्रेजी में अनुवादित होकर हम तक पहुंच नहीं पातीं।

सौंदर्य शास्त्र एक विचित्र शास्त्र है। वह वस्तुतः एक मूल्य शास्त्र है आदर्श शास्त्र है। चूंकि हमारे जीवन की प्रधान दिशाएँ और तत्सम्बन्धी जिज्ञासाएँ विभिन्न युगों में बदलती रही हैं और बदलती रहेंगी, इसलिए इस शास्त्र का वैसा विकास नहीं हो पाता जिस प्रकार कि उदाहरणतः भौतिकशास्त्र का है जिसमें परवर्ती विचारक पूर्ववर्ती चिन्तक के सिद्धान्तों को या तो नई व्यवस्था में बाँधता है अथवा उसके कन्धे पर खड़े होकर नवनवीन विकास के परिदृश्य देखता है। सौंदर्य शास्त्र नीति शास्त्र आदि मूल्य शास्त्र होने के कारण, वे सिद्धान्त मुख्यतः प्रणालियों के समवाय के रूप में प्रस्तुत होते हैं। अन्तिम निर्णय करने का भार हम पर ही रह जाता है, कि उनमें से कौन सी बात हमारे लिए स्वीकरणीय है और कौन सी त्याज्य। आधुनिक सौंदर्य शास्त्र के क्षेत्र में तो सिद्धान्तों का एक जंगल का जंगल खड़ा हो गया है।

सौन्दर्य शास्त्र के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसके सिद्धान्तों में परिवर्तन होता रहता है और किसी युग में किसी विशेष प्रवृत्ति की औचित्य स्थापना के लिए वैसे सौंदर्य सिद्धान्त बनते और बनाये जाते हैं। आज की स्थिति तो यह है कि आधुनिकतम चित्रकला को समझने के लिए सबसे पहले हम उसकी सौंदर्य शास्त्रीय मान्यताओं का ही अध्ययन करना चाहिए।

किसी प्रवृत्ति की औचित्य-स्थापना के हेतु जिस सौन्दर्य सिद्धान्त का जन्म होता है, वह सिद्धान्त उस प्रवृत्ति के ह्रास के साथ ही निर्बल हो जाता है। आज पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित हम लोग जिस भाव और उसकी जिस अभिव्यक्ति में सौंदर्य देखते हैं, उसका कारण यह है कि हमारी मन प्रवृत्तियाँ भी उसी भाव के अनुकूल हैं। साधारणतः आत्मोन्मुख साहित्य धारा में सौंदर्य का जो अर्थ हो सकता है वह अर्थ बहिर्तर समग्र जीवनोन्मुख साहित्य धारा में परिवर्तित हो जाता है। फलतः जिसे हम सौंदर्य कहते हैं उसमें कुछ लोग अपूर्णता

या पत्रिकाओं तथा वाचनालयों में होता है, और वे जिस सौन्दर्य की रचना है उसमें हम लोगों का मन डूब जाता है। यह एक वास्तविक और ऐतिहासिक तथ्य है। इसका— इस समय साहित्यिक प्रवृत्ति का इतना विकास नहीं हुआ है कि हम अपनी प्रवृत्तियों और स्वभावों, भावनाओं और अभिरुचियों के बारे में स्वतन्त्र रूप तथा कभी-कभी विरोधी प्रवृत्ति के साहित्य की समस्याओं पर विचार करें और उन समस्याओं की गहराई में पहुँचकर उनका सामना भी आप करें।

भारत में पहुँचने वाला कोई तथा ऐसा साहित्य—पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य इतना उत्तम कोटि का नहीं होता, पर वह त्याज्य भी नहीं। उन पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य को देखकर उन उन देशों की प्रधान प्रवृत्तियों के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा। किसी भी देश के किसी भी युग में श्रेष्ठ साहित्यिक थोड़े ही होते हैं। उन्हीं के नाम से उस देश के साहित्य की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता पहचानी जाती है न कि पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर निकलने वाले साहित्य से। किन्तु—और यह बहुत बड़ा किन्तु है—पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य और उसके लेखक साहित्य के विकास में अपनी प्रेरणा द्वारा योग देते हैं। उनसे सूचित होता है कि राष्ट्र की प्रधान प्रवृत्तियाँ और प्रयत्न क्या हैं? यह आवश्यक है कि ये प्रवृत्तियाँ स्वस्थ और कल्याणकारी हों। इस आवश्यकता से कौन इनकार करेगा? इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर काम करने की जरूरत है।

मैं गोरखनाथजी को धन्यवाद देता हूँ कि उनके लेख ने मुझे अपने विचार प्रकट करने के लिए आतुर कर दिया। गोरखनाथजी का लेख सद्भावनापूर्ण था, बुनियादी तौर पर। इसीलिए मैंने उत्तर देने का साहस किया। उत्तर देते समय, मैं इधर-उधर अपने विचारों में भटक गया हूँ। लेकिन इसमें मुझे कोई हानि मालूम नहीं होती।

साहित्य के दृष्टिकोण

साहित्य को किस दृष्टि से देखना चाहिए ?—इसके उत्तर के लिए हम उन सभी दृष्टियों पर विचार कर लें जिनसे अब तक लोग साहित्य को देखते आये हैं। हम उन दृष्टियों की साधारण गणना न कर उन दृष्टियों के मूल पर भी सोचते चलें, और इसी तरह उनके सापेक्ष महत्त्व को भी निश्चित करते चलें।

साधारणतया साहित्य के दो पहलू रहे हैं। एक तो वह जिसमें मनोरंजन हो और दूसरा वह जिससे हम अधिक मानवीय होते चलें। पहला केवल मनोरंजन ही मनोरंजन है उसके आगे कुछ नहीं और दूसरा किसी आदर्श को लेकर चलता है।

पुराने समय में भी एक साहित्य केवल मनोरंजन के लिए लिखा जाता था, जिसमें वर्ण चमत्कार और वर्णन चमत्कार का बाहुल्य था, और दूसरा वह था जिसमें रसोद्रेक का उद्देश्य मनुष्य को अधिकाधिक मानवीय करते चलना था। चूंकि मनोरंजक साहित्य का उद्देश्य अत्यन्त सामयिक है इसलिए हम दूसरे प्रकार के साहित्य पर जिसमें किसी आदर्श को लेकर चलना होता है, विचार करते चलें। और इन्हीं आदर्शों पर विचार करते हुए हम उन सभी दृष्टियों का पता चल जायगा जिनसे साहित्य देखा जाता है।

यूरोप में उपन्यास साहित्य ने साहित्य को विविध कल्पना (Conceptions) को जन्म दिया। खासकर फ्रांस साहित्यिक विचार धारा का सबसे अधिक जिम्मेदार है। रोमांस, जिसमें सामयिक मनोरंजक साहित्य अधिकांश में था, फ्रांस के उपन्यासों का मुख्य विषय रहा। रोमांस जैसा कि वह शेली में या कालिदास में पाया जाता है अपनी सचाई के कारण अपनी आंतरिक भाव प्रवणता के कारण आदर्श की ओर ही उन्मुख है। दूसरी तरह का रोमांस, जो अधिक बाहरी है और केवल हमारी कल्पना को ही तृप्त करता है, साहित्यिक आदर्श के निकट नहीं है। कुछ कुछ इसी तरह का रोमान्स फ्रांस में प्रचलित रहा। कथा-कहानियों में स्त्री पुरुष प्रेम, जिसको असलियत से कोई सीधा वास्ता नहीं था, कल्पना को तृप्त करने के लिए लिखा गया।

इस उपदेशवादी या आदर्शवादी साहित्य के खिलाफ बगावत की कलावाद ने। इस स्कूल ने 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त स्वीकार किया। इसमें वाह्य सौन्दर्य का और अधिक ध्यान था। साहित्यिक टेकनीक विशेष रूप से विकसित हुआ और साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन माना गया।

यह कलावाद प्राणहीन था और जल्दी ही खत्म हो गया। इससे अधिक पुष्ट और सप्राण इब्सन का सामाजिक साहित्य था। इब्सन से बहुत लोग प्रभावित हुए। बर्नार्ड शा और गाल्सवर्दी ने समाज की आलोचना की। इधर विज्ञान और भौतिक सभ्यता ने समाज में नयी समस्याएँ उत्पन्न कीं। साहित्य इन समस्याओं से अछूता नहीं रह सका। इन पर विचार उपन्यासों और अन्य रचनाओं द्वारा किया गया। परिणामतः प्रचारवादी स्कूल खड़ा किया गया। फ्रॉयड के मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों से साहित्य भी प्रभावित हुआ और तब से शुद्ध मनोवैज्ञानिक साहित्य का जन्म हुआ।

इतना निम्न जान पर यह न समझना चाहिए कि किसी भी तरह का लेखन इन स्कूलों में बंध गया है। जीवन किसी भी दायरे में बंध नहीं सकता। और जहाँ जहाँ जीवन के प्रति सचाई प्रकट की गयी है वहाँ वहाँ कला अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ प्रकट हुई है। किन्तु जहाँ किसी 'वाद' या बौद्धिक विश्वास से जीवन को देखा गया है वहाँ जीवन की ताजगी और उसका प्रवाह सगात लुप्त हो गया है। जिस तरह यथार्थवाद के सुन्दर-से-सुन्दर नमूने मिलते हैं मध्यकालीन विक्टर ह्यूगो के 'लामिजरेबुल्स (Les Miserables) या आधुनिक माक्सिम गोर्की के 'मदर (Mother) में उसी तरह आदर्शवाद के भी सुन्दर से सुन्दर नमूने मिलते हैं।

परन्तु लोग आलोचना करने समय किसी खास 'वाद' के दायरे में बाँधकर ही साहित्य को देखते हैं। यह तरीका एकदम गलत है। साहित्य के 'वाद' दार्शनिक या वैज्ञानिक प्रणालियाँ नहीं हैं वे केवल साहित्य के दृष्टिकोण हैं।

कोई भी दृष्टिकोण याने कोई भी साहित्यिक वाद तभी तक ठीक है जब तक वह जीवन की चेतना से परिपूर्ण है। यथार्थवाद जिसे आजकल वर्गवादी प्रगतिवादी कहते हैं तभी तक ठीक है जब तक उसका लेखक अपनी स्फूर्ति वास्तविक स्थिति से पाता है। प्रश्न स्फूर्ति का ही है केवल ग्रामीण स्थिति देख भर लेने से, या गाँवों के वातावरण में लेखक के रहने से सच्चे यथार्थवादी साहित्य का जन्म नहीं हो सकता, जब तक लेखक की आत्मा ग्रामीणता में स्वयं नहीं पनपती और वहाँ की क्रिया प्रतिक्रिया से प्रवहनशील होकर साहित्य में नहीं उतरती। आँरी बारबूस एक सच्चा प्रतिवादी कलाकार था क्योंकि उसकी क्रान्ति की भावना के पीछे उसका स्वयं का जीवन था, जो कि उसके आस-पास की परिस्थिति से पूर्ण-सुसंगत और उसका प्रतिनिधित्व करता था।

जिस तरह सामाजिक अवस्था में आदर्श मानव आगमी यथार्थवादी हो जाता है उसी तरह अपनी सम्पूर्ण परिस्थिति में अपनी भावनाओं के मातहत होकर चलने वाला मानव प्रायः भावना प्रधान और कल्पना प्रधान जिसे रोमांटिक कहते हैं हो जाता है। वास्तव में देखा जाय तो रोमांस और यथार्थवाद में केवल परिस्थिति का भेद है। यथार्थवादी भी उतना ही भावना प्रधान आदर्शवादी हो सकता है जितना कि कवि। परन्तु उसका दृष्टिकोण बहिर्मुख है बाह्य वास्तविकता के संघर्ष से उत्पन्न उसकी भावनाएँ हैं और रोमांटिक कलाकार का दृष्टिकोण अपने आन्तरिक जगत् के प्रति है। वह स्वयं अपना ही कलाकार है।

प्रतिक्रिया युग में हम देख पाते हैं कि यथार्थवादी रोमांटिक के प्रति द्वेषभाव से देखता है परन्तु यह गलत है। मनुष्य की प्रकृति में क्या रोमांस का स्थान नहीं है? रोमांस तो अवश्यम्भावी जीवन धारा का Self assertion है। जिस तरह वसन्त ऋतु में वृक्षों के अन्दर सहसा ओज फूल-पत्तियों का सृजन करता है वैसे ही यही तरुण आज स्त्री पुरुष के अन्तर्जगत में रोमांस उत्पन्न करता है उनके स्वस्थ शरीर में वह नव जीवन बनकर बहने लगता है।

परन्तु व्यक्ति जितना सामाजिक है उतना ही वैयक्तिक। कभी-कभी यथार्थवादी को भी कविता लिखने की सूझती है और कल्पना प्रधान कलाकार को कहानियाँ और लेख। जब भावना प्रधान प्राणी बाह्य वास्तविकता की ओर मुड़ता है और अपनी सहज ईमानदारी से वशीभूत होकर उसके प्रति अपने को जिम्मेदार ठहराता है तभी से उस साहित्य की उत्पत्ति है जिसे हम आदर्शवादी साहित्य कह सकते हैं क्योंकि वह जीवन पर सोचने लगता है जीवन की Tragedies उसके विरोध और विसंगतियाँ उसके मन में बैठ जाती हैं। वह उनके विचारों से किसी तरह छुटकारा नहीं पा सकता। वह उन पर सोचता है कुछ निष्कर्षों पर आता है और उन सबका चित्रांकन करता है। इस विशेष प्रकार का कलाकार जीवन को समस्त रूप में ग्रहण करने की चेष्टा करता है और यहाँ उसका महत्व है। हार्डी रोम्याँरोलाँ शरद ऐसे ही कलाकारों में से हैं।

हमने इन तीन मुख्य वादों पर ही अधिक प्रकाश डाला है। अब दृष्टिकोण समझने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। दूसरे जगत का समस्त साहित्य अधिकतर इन तीन विभागों में ही बाँटा जाता है।

पर क्या कारण है युग के साथ साथ कला परिवर्तित होती चलती है? इसके मुख्य हेतु दो हैं—प्रथम आन्तरिक और दूसरा बाह्य। बाह्य परिस्थिति जिस तरह बदलती चलती है उसी तरह साहित्यिक धारा भी अपनी दिशा बदलती है। इसके उदाहरण आपको किसी भी अच्छे साहित्य में दृष्टिगोचर होंगे। हम इसको अधिक से अधिक बाह्य से प्रतिक्रिया कहेंगे। पर एक ऐसी भी प्रतिक्रिया है जो आन्तरिक जगत में होती है जिसके कारण साहित्य की आन्तरिक

धारा मे हलचल उत्पन्न होती है।

कला तभी तक जीती जागती रहती है जब तक कि लेखक का वण्य वस्तु के प्रति भावात्मक सम्बन्ध हो। जिस प्रकार सोचना या विचार करना ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक साधन है, उसी प्रकार भावना भी जीवन का ज्ञान प्राप्त करने का एक कलात्मक साधन है। भावनानुभूत ज्ञान ही कला का विषय है परन्तु जब हम कला का सच्चा दृष्टिकोण छोडकर किसी दूसरे क्षेत्र मे चले जाते है तब हम धीरे धीरे प्रतिक्रिया का आह्वान करते है। उदाहरणत कबीर जब तक अपने रग मे मस्त होकर जीवन का ज्ञान सुनाता है, तभी तक वह कलाकार है, पर जब वह हमे उसके बौद्धिक दार्शनिक निर्गुण वाद के प्रति आस्था रखने के लिए आग्रह करता सा दीख पडता है वहीं वह कला का दृष्टिकोण छोडकर दार्शनिक दृष्टिकोण के क्षेत्र मे उतर आता है जिसके अलग नियम हैं और मूल्याकन के अलग Standard है। उसी तरह पद्माकर श्रृगार के साधन और उसके उपकरणो का Catalogue पेश करते है। यहाँ भी वही दोष है।

एक दूसरे प्रकार की आन्तरिक प्रतिक्रिया तब शुरू होती है जब भावनानुभूति के नाम पर हम उन्ही भावनाओ को दुहराते रहते हैं जो निष्प्राण हो गयी है, जहा जीवन की गति कुण्ठित हो गयी है। इस प्रकार साहित्य मे बासीपन की उत्पत्ति होती है, जिसके विरुद्ध प्रतिक्रिया फौरन शुरू हो जाती है क्योकि जीवन एक जगह रुका नही रह सकता।

क्यो एक कलाकार दूसरे कलाकार से ऊचा कहा जाता है? क्या Walt Whitman या Browning को लोग Tennyson से ऊचा समझते है? कबीर क्यो बिहारी से ऊँचा है?

इस प्रश्न का उत्तर देते समय हम साहित्य मे सतह का भी परिचय हो जाता है। कौन किस सतह से बोलता है यह सवाल है। रवीन्द्रनाथ जिस सतह से बोलते हैं, जिस व्यापक जीवन के सर्वोच्च बिन्दु पर वे खडे होकर देश देशान्तर के जन समुदाय के सामने अपने को प्रकट करते हैं, उस स्थान से अन्य अनुगामी कलाकार नही बोल पाते। उतना ही उनमे बौनापन है जितना कि रवीन्द्र मे ऊँचाई।

साहित्य का मूल्याकन निश्चित करते समय हम सतह का ध्यान रखना ही पडता है। कवि का शब्द चयन छन्दोरचना, प्रकृतिवर्णन स्वभाव चित्रण अत्यन्त सुन्दर होने हुए भी (जैसे कि टेनिसन मे है) यदि ऊँची सतह नही है तो वह उच्च कलाकार नहीं कहा सकता।

समाज और साहित्य

साहित्य तथा युग के परस्पर सम्बन्ध के विषय में मूलभूत जिज्ञासा यह रहती जिज्ञासा है जो ऐतिहासिक विकास की सामाजिक प्रक्रियाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति का अनुसंधान करना चाहती है। निश्चय ही साहित्य विवेचन के लिए ऐसी जिज्ञासा के स्पष्ट जीवन के सम्बन्ध में [illegible] का अध्ययन आवश्यक होता है। जो लोग साहित्य के केवल सौन्दर्यात्मक मनोवैज्ञानिक पक्ष को चरम मानकर चलते हैं वे समूची मानव-सत्ता के प्रति निष्ठावानों न रहकर साहित्य के प्रति [illegible] हैं ही साहित्य के मूलभूत तत्त्व उसके मानवीय अभिप्राय तथा मानव विकास में उनके ऐतिहासिक योगदान अर्थात् दूसरे शब्दों में साहित्य के स्वरूप विश्लेषण तथा मूल्यांकन न कर पाने के भी अपराधी हैं। साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव-सत्ता का अध्ययन है अतएव जो लोग केवल ऊपरी तौर पर साहित्य का ऐतिहासिक विश्लेषण अथवा समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर देने में ही अपना इति कर्तव्यता समझते हैं वे भी न्याय नहीं करते हैं। ऐसे व्यक्ति साहित्य के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय परिवेश की बात करके चुप हो जाते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचना में ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यात्मक विवेचना की सम्पूर्ण एकात्मता रहे। समालोचना केवल एक ही होना चाहिए और उसके विविध पक्ष मत एक ही सर्वसामान्य मूल स्रोत एवं एक ही व्यवस्था तथा एक ही कला चिन्तन से उद्गत होने चाहिए। किन्तु यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि हम ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय पक्ष तथा मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यात्मक पक्ष के परस्पर सम्बन्धों का स्वरूप विश्लेषण नहीं कर लेते।

मेरे मत से किसी भी सौन्दर्य शास्त्र की नींव इस सम्बन्ध के स्वरूप विश्लेषण पर आधारित है। आदर्शवादी भाववादी सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य की मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं को ही रूप रूपान्तरों का मूलभूत तथा चरम मानकर चलता है। सौन्दर्य को आत्म प्रतीति अथवा आत्म साक्षात्कार का साधन मानकर चलने वाले साधारण रूप से उसको किसी अतीन्द्रिय सत्ता का आत्म प्रकाश भी मानते हैं।

इन आदर्शवादी भाववादियों में अनेक पंथोपपंथ हैं। वे मानव इतिहास की भी उसी ढंग से व्याख्या करते हैं जिस प्रकार वे जगत की आध्यात्मिक व्याख्या करते हैं। फलत उनके लिए इतिहास-समाजशक्ति मनुष्य के परिवेश के रूप में ही उपस्थित होती है, वे उसे वह मूलभूत क्रिया नहीं मानते जो मनुष्य को उसके प्रारम्भिक पाशव-स्तर से उठाकर मानव-स्तर तक तथा उसके आगे भी लगातार उसकी उन्नति करती हुई आ रही है, जिसने उसकी आत्मा को वास्तविकता दी है। इस समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक प्रक्रिया के बिना न मानव सम्बन्ध रह सकते हैं न वे गतिशील हो हो सकते हैं।

मानव चेतना वस्तुत मानव सम्बन्धों से निर्मित तथा उनसे उद्गत चेतना है। ये मानव सम्बन्ध समाज के विकास के साथ परिवर्तित होते रहते हैं तथा समाज की विशेष स्थितियों की उनमें विशेषताएँ प्रकट होती रहती हैं। विशेषता संयुक्त ये मानव सम्बन्ध मानव चेतना का मूलभूत तत्त्व हैं जिनके आधार पर कला दर्शन धर्म तथा साहित्य की सृष्टि होती है। इन्हीं मानव-सम्बन्धों की अवस्था विशेष के अनुसार मानव की विश्व दृष्टि भी बनती है। निश्चय ही उसकी यह विश्व-दृष्टि उसकी चेतना का ही अंग है। इसका अर्थ यह नहीं कि चेतना हमेशा सच्ची बात ही कहती और जानती है। 'चेतना' के भीतर कार्य कारण सम्बन्धों की अवैज्ञानिकता की अनेक कोटियों से लेकर तो वैज्ञानिकता के जितने भी रूप रूपांतर हो सकते हैं वे सभी सम्मिलित हैं। यदि मानव सम्बन्ध मनुष्य की आदिम असभ्यावस्था के रूप हैं, तो चेतना भी धर्म के रूप में जादू टोने तक ही रहेगी। जैसा जैसा समाज बदलता जाएगा, मानव सम्बन्ध भी बदलते जायेंगे तथा चेतना के रूप स्वरूप में भी परिवर्तन होगा। उसी के अनुसार धर्म का भी विकास होगा। वेदकालीन धर्म मध्ययुगीन धर्म नहीं है। उसी प्रकार रीति कालीन साहित्य आधुनिक साहित्य नहीं है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मानव सम्बन्धों के आमूल परिवर्तन के साथ ही चेतना स्वयं भी यांत्रिकतापूर्वक आमूल बदल जाती है। चेतना के विकास के अपने गतिनियम हैं, जो सापेक्ष्य रूप में स्वतन्त्र हैं। किन्तु उनकी स्वतन्त्रता की सापेक्ष्यता का बिलकुल सीधा निर्णयकारी नियन्त्रक सम्बन्ध वास्तविक मानव सम्बन्धों से है। सामाजिक उत्पादन प्रणाली तथा विभाजन के अनुसार, विविध वर्ग तथा उनके जीवन-यापन की विशेष प्रणालियाँ निर्धारित करती हैं। एक वर्ग के भीतरी सामाजिक सम्बन्ध सभी मानव सम्बन्ध हैं।

चेतना के तत्त्व बदलने से उनकी अभिव्यक्ति भी बदल जाती है। किन्तु स्वयं चेतना मानव सम्बन्धों में परिवर्तन उपस्थित होने से बदलने लगती है। चेतना को हमारे विचारकों ने अधिकतर व्यक्तिगत अर्थ में ही लिया है। वे चेतना पर सामाजिक प्रभाव भले ही मान लें किन्तु उसके वस्तु-तत्त्वों को सामाजिक नहीं

मानते। उसका प्रधान कारण यह है कि मनुष्य की प्रवृत्तियों के समूह को व मानव मन को सत्ता देते हैं। वे यह नहीं देखते कि ये प्रवृत्तियां उन वस्तु-तत्वों के बिना जिन्दा ही नहीं रह सकती जिनके द्वारा वे सम्पूर्ण परिवर्धित तथा विकसित होती हैं। यहाँ हम मनोविज्ञान की अथाह थाह में उलझना नहीं चाहते। केवल संक्षेप में यह बता देना चाहते हैं कि भूख प्यास काम वृत्ति तथा आत्म रक्षा की मूलभूत प्राणिशास्त्रीय प्रवृत्तियों का मानवी स्थिति विकास ऐतिहासिक समाज शास्त्रीय नियन्त्रण स्थापन के बिना असम्भव ही है। यदि ये ऐतिहासिक समाज शास्त्रीय शक्तियाँ न होतीं तो मनुष्य बन्दर से कभी भी मानव न हो पाता।

अपने आदिकाल से लेकर तो आज तक मनुष्य अपनी भूख प्यास काम वृत्ति आदि की पूर्ति न केवल समाज के भीतर करता आया है वरन समाज के द्वारा उन्हें परिपूत तथा सुसंस्कृत भी करता रहा है। यही कारण है कि अर्ध सभ्यावस्था में अथवा असभ्यावस्था में जब समाज मातृ प्रधान था उत्पादित वस्तुओं के समान वितरण के बावजूद भूख प्यास आदि वृत्तियों की पूर्ति उस अविकसित समाज दशा की प्रतिबिम्ब रूप थी। उन वृत्तियों की पूर्ति का आधार सामाजिक था तथा उन पर नियन्त्रण भी सामाजिक रहा उन वृत्तियों की पूर्ति प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से जीवन धारण के लिए आवश्यक होते हुए भी उस पूर्ति की पद्धति तथा पूर्ति-कार्य में जीवन मूल्य निहित थे। इन जीवन मूल्यों के बिना भूख प्यास कामवृत्ति आदि की पूर्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी न आज भी वह की जा सकती है। अन्तर केवल इतना है कि आधुनिक पूंजीवादी ढांचे में—जबकि समाज शोषित और शोषक—इन दो प्रधान परस्पर विरोधी वर्गों में विभाजित हो गया है—भूख प्यास कामवृत्ति आदि प्राणिशास्त्रीय प्रवृत्तियां के मानवीय जीवन मूल्यों में भी व्यक्तिवादी उद्देश्य समा गये हैं।

प्रारम्भ में हमारा समाज अर्धसभ्य अथवा असभ्य था। उसमें वर्ग न थे। वह मातृ प्रधान था। व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। व्यक्तिगत सम्पत्ति स्थापित होने पर हमारा समाज एक बड़ा भारी क्रान्ति के दौरान में से गुजरा। उसमें विवाह संस्था स्थापित हुई जो व्यक्तिगत सम्पत्ति की विरासत चलाने के लिए रखी गई थी। समाज अब मातृ प्रधान न रहकर पितृ प्रधान बना। विवाह संस्था बनते ही मनुष्य स्त्री का अधिकारी हुआ तथा पुत्र पिता के नाम से पहचाना जाने लगा माता के नाम से नहीं। स्त्री चिरकाल के लिए पुरुषों की दासी हुई। दास प्रणाली सामन्ती पद्धति तथा पूंजीवादी समाज रचना में स्त्री बराबर दासी ही बनी रही।

जो लोग रोमांस को सामाजिक सम्बन्धों से हटाकर उसे मात्र व्यक्तिगत करार देते हैं वे यह नहीं जानते कि रोमांस का अर्ध मातृ प्रधान समाज में कुछ भी नहीं था। उन दिनों उसका अधिक से अधिक यह अर्थ हो सकता था कि कुछ

काल के लिए एक पुरुष एक स्त्री से अधिक हार्दिकता अनुभव करे। किन्तु उसका काम सम्बन्ध कितना ही से एक साथ रह सकता था और उन दिनों उसका प्रेमी कदाचित ही इस सम्बन्ध में कोई दूसरी राय रखे। इसका अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक नियम कम सुदृढ़ थे। सामाजिक नियम को भंग करने वाले के लिए अपना जान गवाने का खतरा हमेशा रहता था और अगर प्रेमी कोई दूसरे विजातीय कबीले का हो तो लड़ाइयाँ छिड़ जाती थीं। उन दिनों सबके जीवन-मूल्य अत्यन्त सुदृढ़ थे। अन्तर केवल यही है कि वे आज के सामाजिक नियमों से भिन्न थे।

रोमांस का आधुनिक विकास पितृ प्रधान समाज के बिना असम्भव ही माना जाएगा। इस समाज के भीतर स्त्री पुरुष की आजीवन दासी बनाई गई। पुरुष स्त्री के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे विवाह कर सकता था किन्तु वही विवाहित स्त्री किसी दूसरे पुरुष पर मुग्ध होकर उससे प्रेम विवाह नहीं कर सकती थी। एक पुरुष—यदि उसकी आर्थिक दशा अच्छी है तो—कई स्त्रियाँ रख सकता था किन्तु वही स्त्री किसी दूसरे की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती थी। स्त्री को क्रमशः वेदाध्ययन आदि प्रधान धार्मिक अधिकारों से भी वंचित बना दिया गया था।

फलतः स्त्री के प्रति पुरुष का मूलभूत दृष्टिकोण प्रजोत्पादन तथा काम का दृष्टिकोण था। नारी उपभोग्या हुई, तथा साहित्य में उसके इस उपभोग्या रूप का रस ले लेकर वर्णन किया जाने लगा। गोपी पीन पयोधर मर्दन चंचल कर युगशाली। श्रीकृष्ण राधा के कनक उरोजों के मुकुर में अपना रूप निहारने लगे। प्रेम चाहे जितना पूर्ण क्यों न हो, शारीरिक आसक्ति के बिना उसमें लावण्य का अभाव माना जाने लगा। हजार धार्मिक सामाजिक बन्धनों के बावजूद नारी नायिका बन गई। वह परिवार वालों की नज़र से बचते हुए, अभिसार करने लगी। रात्रि पथों पर जूड़े से गिरे हुए फूलों के द्वारा कवियों को उसके प्रेम पथ का वर्णन करने का अवसर प्राप्त होने लगा। शिप्रा नदी के प्रवाहांचलों पर बहती हुई वायु की माधुरी का प्राकृतिक रूप हटकर उसके स्थान पर वह समीर कवि को प्रियतम की प्रार्थना चाटुकारिता के समान प्रतीत हुई।[1] आज की पूँजीवादी समाज रचना के भीतर छायावादी कवि को भी पर्वत पृथ्वी के उरोजों से दिखाई देते हैं। यह उपमा अपने लिए अनुकूल जान उसने प्राचीन कवियों से ली है। और कवि साफ़-साफ़ यह कहने लगे कि खुली हुई जंघाओं वाली रमणियों को भला कौन छोड़ सकता है।[2]

१ शिप्रावात प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकार। —कालिदास
२ जानास्वान्तो विपुलजघना को विहातुं समर्थः। —कालिदास

अगर आधुनिक स्त्री अपने शारीरिक सौन्दर्य के विषय में मध्ययुगीन कवियों के भाव विचार देखे तो वह पायगी कि वह किस प्रकार पुरुषों की भूख का खिलौना हो गई थी मानो उसका अपना कोई व्यक्तिगत अस्तित्व न हो। अधिक से अधिक वह नागमती के शब्दों में इतना ही कह सकती है—

यह तन जारों छार कै
कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै
कन्त धरैं जहँ पाँव॥

इससे अधिक स्त्रियों को और कोई अधिकार न था। पतिप्राणा नागमती रत्नसेन को छोड़कर न किसी दूसरे से प्रेम कर सकती थी न अपने पति को इस बात के लिए मजबूर कर सकती थी कि वह पद्मावती से विवाह न करे। स्त्रियों के सम्बन्ध में तुलसीदासजी की उक्तियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। कबीर ने भी नारी को माया कहा है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय प्रेम के वर्णन की चार प्रणालियाँ बतलाई हैं।[1] उनमें सामन्ती समाज के स्त्री पुरुष सम्बन्ध नियम पर आधारित स्त्री के उपभोग्या रूप की प्रधानता का तथा स्त्री के सम्बन्ध में पुरुष के सामन्ती मनोविज्ञान का स्पष्ट पता चलता है। सीता के प्रति राम के प्रेम वाली पद्धति को उन्होंने अत्यन्त उत्कृष्ट बतलाया है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से सीता की जीवनगाथा का दर्शन करने पर यह ज्ञात होता है कि इस साध्वी नारी को सामाजिक नियम विधानों के कारण कितना दुःख और कष्ट उठाना पड़ा। माना कि राम का चरित्र उज्ज्वल था किन्तु सीता का क्या उज्ज्वल नहीं था। फिर भी उस भारतीय महामानवी को कितनी ही अग्नि परीक्षाओं से गुजरना पड़ा। सीता की जीवन गाथा से तादात्म्य प्राप्त करने वाले भवभूति के उत्तररामचरित की करुणा सीता का दुःख द्वारा व्यक्ति के प्रति कवि की मानवता का विरोध भाव था। तुलसीदासजी इन प्रकरणों को साफ बचा गये।

प्रेम अथवा रोमांस के सम्बन्ध में हमारे समालोचक उसके भाव स्पन्दनों को ही ग्रहण करते हैं मात्र अनुभूति को ही स्वीकार करते हैं।

अनुभूति को देखते समय उनका ध्यान उस वस्तु या व्यक्ति का तथा उसका अनुभव करने वाले की (उस अनुभूति की स्थिति के लिए) परम्परागत स्थिति की ओर जाता ही नहीं। अनुभूति तथा अनुभूति के विषय अर्थात् ग्राह्य वस्तु या व्यक्ति के परस्पर सम्बन्ध के बिना अनुभूति असम्भव होती है। ये सम्बन्ध अनुभूति के स्वरूप में ही निहित होते हैं। अनुभविता तथा तत्सम्बन्धित वस्तु अथवा व्यक्ति उस पूरे जगत में रहते हैं जिसे हम वर्ग और समाज कहते हैं। समाज तथा उसके

१ देखिए—जायसी ग्रन्थावली की भूमिका पृष्ठ ३५

भीतर वर्गों की परस्पर सम्बन्धित स्थिति के अनुसार जो वास्तविक मानव सम्बन्ध तयार होते हैं व मानव सम्बन्ध ही मनुष्य के कानूनी, राजनैतिक धार्मिक नियम विधानों में व्यक्त होते हैं। इन मानव सम्बन्धों की स्थिति स्वरूप तथा विकासावस्था के आधार पर तथा उनके अनुसार हमारी विश्व दृष्टि, नैतिकता तथा जीवन मूल्य बनते हैं। यह विश्व दृष्टि और जीवन मूल्य हमारी अभिरुचि, संस्कार शिष्टता की मर्यादाएँ तो बनाते हैं, साथ ही व वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे दृष्टिकोण का भी निर्माण करते हैं। इस दृष्टिकोण को अलग कर अनुभूति की स्थिति असम्भव है।

अपनी बात के स्पष्टीकरण के लिए एक उदाहरण लें। राजस्थान में राजपूत जागीरदार ठिकानेदारों के समाज में दहेज में दास दासी प्राप्त होने की प्रथा अभी तक मौजूद है। शायद, इस समय कानूनन वह बन्द हो गई हो। उन दासियों से अनेक अनियमित सन्तानें पैदा होती हैं और उन्हीं परिवारों में व दास के रूप में बढ़ चलता हैं। दासी-पुत्रों के विस्तार के कारण जब परिवार बढ़ चलता है, तब बहुत बार उनका आर्थिक भार असह्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में उन पुत्रों को घर से निकाल दिया जाता है। मध्य भारत तथा राजपूताने में वे बेचारे दासी पुत्र मारे मारे फिरते हैं।

ऐसे प्रतिष्ठित राजपूत भी कम नहीं है जो इस प्रथा को बुरा समझते हैं। अब ज़रा कल्पना कीजिए ऐसे भूतपूर्व, किन्तु धनी जागीरदार व्यक्ति की, जो एक ओर तो अपने घर की लावण्यवती स्त्री को देवी समझता है उसकी प्रत्येक गतिविधि का आदर्शीकरण करता है किन्तु साथ ही, अपनी अधिकार गर्व से पूर्ण सामन्ती वासना को दासियों से शान्त करता है। दासियों से उसके काम सम्बन्ध वस्तुतः मालिक और गुलाम के सम्बन्ध हैं। इस भौतिक वास्तविक सामाजिक सम्बन्ध के कारण ही वह उनको अपनी काम-तृप्ति के भौतिक साधन के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता। उस वास्तविक भौतिक सामाजिक सम्बन्ध के आधार पर ही दासी-स्त्री के प्रति उसकी दृष्टि विचार भावना ने उसकी काम वासना को एक विशेष रूप दिया है। दासी के प्रति उसकी काम वृत्ति तथा अपनी विवाहिता वधू से उसके काम सम्बन्ध में व्यक्त जीवन दृष्टि तथा जीवन मूल्यों का—अर्थात मानव सम्बन्धों का महान् भेद है। वस्तु अथवा व्यक्ति-सम्बन्ध के भीतर सामाजिक सम्बन्धों की वास्तविकता नित्य आधारभूत रूप में रहती है। किन्तु प्रवृत्तियों का रूपायमान भी न केवल वाह्य वस्तु व्यक्ति सम्बन्धों के भीतर सामाजिक सम्बन्धों से होता है, वरन वे प्रवृत्तियाँ स्वयं किसी जीवन-यापन पद्धति के वंशानुगत अनुभवों और विकास प्रणालियों पर निर्भर हैं। यह जीवन यापन पद्धति वर्ग के भीतर होती है। उस वर्ग का अपना एक वर्ग चरित्र होता है। उस वर्ग चरित्र से तुरन्त हम पहचान लेते हैं कि यह व्यक्ति निम्न वर्ग का है

या मध्य वर्ग का है अथवा पुराने सामन्ती वर्ग का प्रतिनिधि है अथवा नवीन पूजीवादी पन्ने लिखे सामन्तीय व्यापारिक वर्ग का है। वर्ग चरित्र म नतिकता के सुविधाजनक भाग रहते है। य सामाजिक मान व्यक्तिगत धरातल पर जीवन मूल्य बन जात हैं। वग अथवा समाज की विश्वदृष्टि व्यक्तिगत धरातल पर निजी दृष्टि बन जाती है। एक सामन्ती वग म अनेक स्त्री सम्बन्ध को शुद्ध सम्पूर्ण सामाजिक दृष्टि से विश्वदृष्टि म बुरा भले ही माना जाए आचरणात्मक धरातल पर न केवल उसक प्रति उपेक्षा की दृष्टि बरती जाती है वरन उस उपेक्षा दृष्टि का लाभ उठाकर वसा ही आचरण किया जाता है। जब किसी वग म धडल्ले स एसी प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं तब धीरे धीरे उनकी निन्दनीयता उपेक्षणीयता की मंजिल लाघकर वरणीयता तक पहुच जाता है। यहाँ तक कि हमारे ग्वाले तो यह कहने लगते हैं कि जब तक हम दूध म पानी न मिलाए तब तक हम पर लक्ष्मी प्रसन्न हो नहीं हो सकती। यद्यपि समाज की विश्व-दृष्टि इस सम्बन्ध म अलग है किन्तु ग्वाले की दृष्टि को विश्व दृष्टि के साम्राज्य के भीतर औपनिवेशिक स्वराज्य हासिल है। ग्वाला उस विश्व दृष्टि को चुनौती नहीं देता मान लेता है किन्तु करता अपने मन की ही है वही करता है जो उसके व्यवसाय वाले सब करते हैं एकाध अपवाद को छोडकर। धीरे धीरे उसके जीवन मूल्य केवल व्यावहारिक अभ्यास म परिणत हो जाते है, तथा उन्हे वग्य प्रणाली का गौरवपूर्ण स्थान मिल जाता है। एक वग के भीतर अपनी विशेष जीवन यापन प्रणाली की आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन मूल्य बना लेता है। एस जीवन मूल्य जो सामान्यतया उस श्रेणी म प्रचलित है। ठीक उसी प्रकार शासक सामन्तीवग की वासना प्रणाली का भी हिसाब है। जो लोग हिन्दुस्तान के रियासती सामन्त-वग म रह हैं उन्ह मेरी बात की ताईद करनी पडेगी कि सामन्ती वग की वासना प्रवृत्ति और उसके मनोवैज्ञानिक-तत्त्व युगो स शायद शासन की अपनी स्थिति के कारण विशेष प्रकार से बलवान हो गय है। इस प्रवृत्ति का रूपायन तथा नियमन भी एक विशेष वग की विशेष जीवन-यापन पद्धति न किया है। अतएव निष्कष यह निकला कि न केवल वतमान मानव सम्बन्ध चेतना के भीतर प्रवेश कर उसके निजतत्त्व बन जाते है वरन् यह कि चेतना की प्रवृत्तियों का रूपायन नियमन भी व ही करत हैं। उनके रूपायन का मूलशक्ति उस वग के अपने चरित्र तथा स्थिति म सन्निहित है। जो प्रवृत्ति वग विशिष्ट जीवन-यापन पद्धति के प्रतिकूल जायगी वह या तो दब जायगी नष्ट हो जायगी अथवा उस व्यक्ति को अपने वर्ग स अलग कर देगा।

हम यह बतला चुके हैं कि विशेष प्रकार के वग-जीवन क मानव-सम्बन्धो के कारण प्राणिशास्त्रीय मूल भी अपने विभिन्न मनोवैज्ञानिक रूपाकार ग्रहण करता है। य मनोवैज्ञानिक रूपाकार एक ही अनुभूति की श्रेणी म वज्ञानिक सुविधा क

लिए, रखे तो जा सकते हैं, किन्तु उनके भीतर प्रकट सम्बन्ध-तत्त्वों की विभिन्नता के यथार्थ को तो मेटा नहीं जा सकता। ये सम्बन्ध-तत्त्व एक ही श्रेणी की अनुभूतियाँ बना देते हैं उदाहरणतः अपराधी के प्रति अनुभूति को विभिन्न क्रोध अपने आप पर क्रोध, अनुचित क्रोध अपने स्वार्थ को हानि पहुँचाने वाले के प्रति क्रोध वर्ग के देश, विश्व के स्वार्थ को हानि पहुँचाने वाले के प्रति क्रोध ऐसा क्रोध जो अंधा होकर हानि पहुँचाने वाले को मार डालता है—जैसा कि हमारे मध्यप्रदेश की पिछड़ी हुई जातियों में (जरा जरा सी बात पर, विशेषकर स्त्री सम्बन्धों को लेकर, कुल्हाड़ियाँ चल जाती हैं) होता है, ऐसा क्रोध जो दार्शनिक आवरण में लपेटा जाकर हलकी सी मुसकान में खिल उठता है—जैसे अति शिक्षित श्रेणियों में पाया जाता है आदि आदि। यद्यपि मात्र वैज्ञानिक सुविधा के लिए इस भावावेग को हम क्रोध मात्र की श्रेणी में रख सकते हैं, किन्तु उसकी प्रसंग-बद्ध विभिन्नता के यथार्थ को मेटा नहीं जा सकता। क्रोध में भी उस क्रोधी व्यक्ति की प्रवृत्ति, जीवन मूल्य तथा दृष्टि देखी जा सकती है तथा उन्हीं में विशेष मानव सम्बन्ध परिलक्षित होते हैं। क्रोध भाव की वेदना के भीतर ही विशेष मानव-सम्बन्ध अपने सामान्य तथा विशिष्ट रूप में देखे जा सकते हैं। इन सम्बन्धों को लेकर ही, क्रोध का यह भाव अपनी विशेषताएँ तथा विभिन्नताएँ ग्रहण करता है।

छायावादी गीतिकाव्य में अमूर्त्तीकरण के द्वारा हम उस अनुभूति को ही लेकर चलते हैं तथा सम्पूर्ण वास्तविक अनुभूत समस्या के उद्‌घाटन की ओर अग्रसर नहीं होते। प्रतीकों द्वारा हम अपने आपको प्रकट करते हैं। छायावाद के आलोचक-समीक्षकों की दृष्टि अनुभूतियों की आयतनगत वास्तविकताओं का विश्लेषण सामान्यीकरण नहीं करती वरन् उस अनुभूति मात्र को ही सर्वाधिक प्रधानता देती है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य आत्मपरक काव्य है इसलिए उसमें बाह्य सम्बन्धों की इतनी प्रधानता नहीं है। छायावादी काव्य उपन्यास नहीं है कि उसमें अनुभूति की पूरी भूमिका समझाई जाये। यह टिप्पणी बिलकुल ठीक है। किन्तु हमारी आपत्ति यह है कि छायावादी काव्य की मान्यताओं के आधार पर कोई साहित्य सिद्धान्त तैयार नहीं हो सकता। साधारण रूप से साहित्य तथा सौन्दर्य की आदर्शवादी रहस्यवादी व्याख्या करने के हेतु साहित्य से जो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं वे छायावादी अथवा तत्समान अन्य काव्य में से ही लिए जाते हैं। उपन्यास, निबन्ध समीक्षा कहानी आदि कम आत्मपरक और अधिक वस्तुपरक साहित्य से उदाहरण तथा प्रेरणा ग्रहण करते हुए साहित्यिक सामान्यीकरणों पर आकर हमने अपनी साहित्यिक अभिरुचियों तथा मानदण्डों को नहीं बनाया है।

मानव चेतना के सामाजिक रूपायन के सम्बन्ध में हम ऊपर कह चुके हैं।

प्रत्येक युग अपनी सामाजिक ऐतिहासिक स्थिति की अनुभूत आवश्यकताओं के अनुसार अपना साहित्य निर्माण किया करता है। प्रश्न यह है कि साहित्य युग का रूप क्या है? किन्तु इसके पहले उस बात में पहुँचा जाए कि जब हम समाज सापेक्ष ऐतिहासिक विकास की स्थिति परिस्थिति का नाम देते हैं। उदाहरणार्थ रोमन साम्राज्य के ह्रास काल में जब उच्चवर्गीय शासक वर्ग दासों के ऊपर अत्याचारपूर्ण शासन करता था। दासों में असन्तोष भी पाया जाता था। किन्तु दासों की चेतना का विकास इतना न था कि वे युगानुरूप सामाजिक क्रान्ति कर सकें। उस समय उन्होंने ईसा मसीह के द्वारा प्रेरणा प्राप्त की तथा धर्म भावना से दृढ़ होकर रोमन शासकों के विरुद्ध आग भड़काई। ये कष्ट भी दासों की तत्कालीन चेतना विकासावस्था के अनुसार प्रकाशमान थे। रोमन शासक और दासों में सुदीर्घ युद्ध चलता रहा जो वस्तुतः वर्ग-युद्ध था। उस समय एक ओर निम्न वर्ग की सांस्कृतिक चेतना ईसाई धर्म से समन्वित थी किन्तु विद्वानों के अनुसार तत्कालीन रोमन साहित्य इस विषय में मौन धारण किए रहा। आगे चलकर यह आवश्यक नहीं है कि जिस ऐतिहासिक युग में कोई विशेष ऐतिहासिक घटना विकसित हो रही हो उसका ठीक ठीक प्रतिबिम्ब साहित्य में उभर हो। उसका सबसे बड़ा कारण है कि सांस्कृतिक साहित्यिक एकाधिकार रखने वाला वर्ग शेष समाज से अपने को अलग कर अपने वर्ग की विषय प्रवृत्तियों तथा उन प्रवृत्तियों की आवश्यकताओं को साहित्य में व्यक्त करता है। अतएव शिष्ट साहित्य एक प्रकार का होता है, समाज के निम्न वर्गों की वास्तविकताओं के अनुसार मौखिक कला दूसरा भाग ग्रहण करता है—यद्यपि यह निम्नवर्गीय कला अपने कुछ उपादान और मूल विचार उच्चवर्गीय श्रेणी से भी ग्रहण करती है।

हिन्दी का शृंगारी रीतिकाल तत्कालीन निम्न वर्गों की वृत्तियों को सूचित नहीं करता। उसकी वासनामूलक शृंगारिकता का जन्म तथा विकास एक विशेष सामन्ती वर्ग की विशेष विकास स्थिति से ही हुआ। अतएव युग स्थिति का सच्चा अर्थ है उस विशेष श्रेणी की स्थिति जो सांस्कृतिक साहित्यिक क्षेत्र का नेतृत्व कर रही हो। इस नेतृत्व करने वाली श्रेणी पर राजनैतिक शासन होता है तत्कालीन सर्वोच्च शासक वर्ग का, जो कि सांस्कृतिक साहित्यिक नेतृत्व प्रदान करने वाली श्रेणी से मिला जुला तथा सम्बद्ध होता है।

इस युग स्थिति के अनुसार किसी विशेष साहित्य युग के अपने विशेष विषयों का चुनाव होता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर तो आज तक हम विशेष युग के विशेष विषयों की प्रदर्शनी को देख सकते हैं। युग विशेष के विशेष विषय तत्कालीन समाज विकासावस्था के भीतर विभिन्न वर्गों की विभिन्न स्थितियों तथा उनके विविध सामाजिक मानव सम्बन्धों से निर्धारित होते हैं। ये विविध विषय अपने को अभिव्यक्त करने के लिए उस वर्ग के हृदय में अकुलाते रहते हैं

जो उस काल में साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र के भीतर निर्णायक रूप से प्रभावशाली हो उठते हैं। किन्तु साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रभावशाली होने के लिए उसे पहले समाज में महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावशाली होना होता है।

साहित्य एक कला है जिसमें समाज का नेतृत्व करने वाला प्रधान वर्ग (जो कि संस्कृति का भी नेतृत्व करता है, अथवा विशेष सामाजिक ऐतिहासिक विकास पर आधारित घटना-चक्रों के कारण समाज का अध्ययन न होते हुए भी, प्रमुख रूप से प्रभावकारी हो जाता है जैसे कि सामन्ती समाज रचना के भीतर सनातनी ब्राह्मण धर्म के पूरे जोर के बावजूद मध्ययुग के भक्ति आन्दोलन में निम्नवर्ग के कबीर, रैदास नामदेव आदि ईश्वर के सम्मुख मानव साम्य के समर्थक क्रान्तिकारी कवियों का प्रादुर्भाव बन जाता है) वह प्रधान वर्ग तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति के द्वारा सामान्य रूप से निर्धारित मनोवृत्तियों के अनुसार अपने साहित्य सृजन के विषयों का निर्वाचन करता है। साहित्य के विशेष विषयों का निर्वाचन करने वाली ये मनोवृत्तियाँ तत्कालीन स्थिति सापेक्ष्य हैं। इन मनोवृत्तियों को सक्रिय करने का श्रेय भले ही किसी महान साहित्यकार को प्रदान किया जाए, वह साहित्यकार उन मनोवृत्तियों का संचय होता है जो उस समाज से प्राप्त होती है। उस साहित्यकार का महत्त्व केवल यही होता है कि उसने उन मनोवृत्तियों को साहित्य में पहले-पहल प्रकट कर अन्यों को नेतृत्व प्रदान किया। हिन्दी में पन्त, प्रसाद, निराला इसीलिए छायावाद के उन्नायक कहलाये। किन्तु, योरोप में रोमैंटिक कवियों का प्रभाव छायाओं का हटाकर, रिक्त मध्यमवर्गीय नैतिकता और तथाकथित आदर्शवाद के विरुद्ध नाटकों के क्षेत्र में शॉ ने कलम उठाई। मध्यवर्गीय जीवन मूल्यों के प्रति विरक्ति एल्डस हक्सले ने अपने उपन्यासों में प्रकट की। काव्य के क्षेत्र में टी० एस० ईलियट की उसी महाविरक्ति में अपने वेजर मशीन दिखलाये। सामाजिक ह्रास को नष्ट करने के लिए किन्हीं अर्थों में शॉ अतिमानव की अवैज्ञानिक प्रतिक्रिया वाली फासिस्टिक कल्पना को थाम रहे। (उन दिनों पश्चिमी योरोप में नारशे तथा स्पेंगलर बहुत लोकप्रिय दार्शनिक थे) इसीलिए बर्नार्ड शॉ के बारे में लेनिन ने यह कहा कि शॉ साहब बुर्जुआ संगत में फँसे हुए अच्छे आदमी हैं। अपनी 'अतिमानव' की कल्पना का किसी न किसी रूप में परित्याग कर शॉ समाजवाद के भक्त हुए तथा नवीन साम्यमूलक समाज रचना उनका आदर्श हुआ। इसके विपरीत मध्यवर्गीय जीवन मूल्यों के प्रति विरक्ति में ग्रस्त होकर एल्डस हक्सले की सम्पूर्ण मानव श्रद्धा ही समाप्त हो गई। मनुष्य की आराधना-त्याग में अधिक महत्त्व देना उन्हें स्वीकार न हुआ। टी० एस० ईलियट ईसाई चर्च एल्डस हक्सले को अपनी जर्जर आत्मा की समस्याओं का हल गिरजाघर तथा वेदान्त में मिला दीखा और उन्हीं की मनोवृत्तियों वाला कवि एजरा पाउण्ड अन्त में राजनैतिक

क्षेत्र में भी घोर फासिस्ट हो गया।

मध्यवर्गीय जीवन मूल्यों के प्रति इस विरक्तिभाव के अनुसार विषय निर्वाचन हुआ। यह विरक्ति भाव जीवन की गतिहीनता का लक्षण तथा प्रतिबिम्ब था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद (तथा विश्व साम्राज्यवाद) पूँजीवादी समाज रचना के ह्रास-काल का ही द्योतक था। प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त तो ये साम्राज्यवादी पूँजीवादी व्यक्तिवाद में साहित्य तथा समाज में नये रिक्त में पागलपन प्रकट हुआ। जीवन मूल्यों के खोखलेपन की धारणा के साथ-साथ जीवन की गतिहीनता का भाव भी प्रबल था। यह गतिहीनता क्या थी?

तत्कालीन मनुष्य के जीवन के लिए दो बातें विशेष रूप से आवश्यक हैं—एक तो यह कि सामाजिक क्षेत्र में उत्तर गतिशील सामञ्जस्यपूर्ण उन्नति होती चली जाए; दूसरे उसके सम्मुख कोई ऐसा आदर्श हो जिसके लिए वह जी सके या मर सके।

प्रथम विश्व-युद्ध ने योरोपीय पूँजीवादी सभ्यता के आत्मविरोधों को खुलकर खेलने का मौका दिया। युद्ध, परस्पर संघर्ष और भयानक नाश की वास्तविकता ने सांस्कृतिक संकट उपस्थित किया। कवियों और दार्शनिकों के मनुष्य-विषयक विचार उड़ने लगे। युद्ध के पूर्व सिपाही को यह बतलाया गया था कि वह अपने देश के लिए लड़ रहा है। किन्तु बाद में उसको यह पता चला कि वह धोखे में था। इतने बड़े पैमाने पर मनुष्य-हत्या के व्यापक विद्रूप के यथार्थ चित्र ने पूँजीवाद के व्यक्तिवादी मूल्यों का पर्दाफाश किया। उधर, पूँजीवादी समाज रचना के भीतर ही मध्यमवर्ग की स्थिति निरापद न रही। पुराने आदर्श-स्वप्न टूट चुके थे। नये आदर्श स्वप्न तैयार होने के लिए व्यापक सामाजिक कर्तव्यों की जो चेतना आवश्यक होती है वह इसलिए नहीं थी कि उस वर्ग की आय का सबसे बड़ा जरिया खुद की मेहनत न होकर बड़ी-बड़ी कम्पनियों में उसके हिस्से और बैंक बैलेंस ही तो था। उसने पूँजीपतियों से अपने को तदाकार कर रखा था। एक ओर पूँजीवाद के भयानक विद्रूप का स्वरूप उसके सामने खुल चुका था किन्तु दूसरी ओर अपनी नौकरियों और आमदनियों के लिए वह उसी पर न केवल अवलम्बित था, वरन अपनी उन्नति के लिए वह उसी की ओर देखता भी था। यह आत्मविरोधी उस अगति का जनक था, जिसने विरक्ति के रूप में काव्य की सृष्टि की। एक जमाना था जब पूँजीवाद के विद्रूप की विभीषिका लोगों पर व्यापक रूप से खुली नहीं थी और आशावाद के लिए पर्याप्त अवकाश और क्षेत्र प्रतीत होता था। इसलिए ब्राउनिंग यह कह सका—

Grow old along with me
The best is yet to be
The last of life for which the first was made

इसके विपरीत पूंजीवादी शोषण पर आश्रित मध्यवर्ग की उक्त पंक्तियाँ खोखली दिखाई दीं, वास्तविकता के प्रतिकूल मालूम हुईं, और उनके एक कवि—टी० एस० ईलियट ने यह कहा—

We grow old we grow old
We wear the bottoms of our trousers rolled '

उपयुक्त अगतिकता को ध्यान में रखकर ही, उसने कहा—

"My candle burns at both the ends, at both the ends "

इस अगति के कारण ही मानव-मात्र पर श्रद्धा उठ गई। नवीन विषयों ने नवीन प्रतीक चुने। उसके काव्य प्रतीक आत्म प्रश्न विरक्ति को सूचित करने लगे, तथा सभ्यता की जो भावात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई वह विरक्ति, व्यंग्य और अश्रद्धा की व्यक्तिबद्ध दृष्टि से ही हुई थी। विश्व व्यापी ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ब्रिटेन के इस अगतिवादी काव्य का प्रभाव योरोप के तमाम पूंजीवादी मध्यवर्गों पर पड़ा। पश्चिमी योरोप में केवल टामसमन और रोमांरोलां ही मयपशील मनुष्य के जीवनादर्शों की नैतिक महत्ता पर श्रद्धा बनाए रहे। इन अल्प किन्तु महान अपवादों को छोड़ शेष साहित्य तथा काव्य अश्रद्धा, रिक्तता, मृत्यु और आत्मग्रस्त वासना को प्रकट करने लगा।

कहने का सारांश यह है कि तत्कालीन मानव सम्बन्धों की विशेष स्थिति के भीतर रहकर योरोपीय मध्यवर्ग ने अपनी अगति के अनुकूल विषय चुने। हम पहले ही यह कह चुके हैं कि साहित्य एक कला है जिसमें एक विशेष वर्ग (जो कि संस्कृति का अधिकारी माना है—अथवा सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रभावकारी माना जाता है) अपनी ऐतिहासिक सामाजिक स्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार अपने प्रधान विषय चुनता है। इस विषय निर्वाचन में निश्चय ही तत्कालीन मानव सम्बन्ध विश्वदृष्टि तथा जीवन मूल्य प्रकट होते हैं। कवि तथा अन्य कलाकार उन विषयों में रमकर उनका मूर्तीकरण करते हैं। उनके मूर्तीकरण के लिए अभिव्यक्ति का संगठन आवश्यक होता है। इस संगठन को हम कला का बाहरी रूप विधान कहते हैं। किन्तु, सौंदर्य वस्तुतः विधान तक ही सीमित न होकर आन्तरिक होता है। सौंदर्य की यह आंतरिकता वस्तुतः अनुभूति के मूल में स्थित मानव सम्बन्धों विश्वदृष्टि तथा जीवन मूल्यों से बनती है। ये जीवन मूल्य मानव सम्बन्ध तथा विश्वदृष्टि उस वर्ग की विशिष्ट दृष्टि होती है जो साहित्यिक सांस्कृतिक क्षेत्र में अपने को अभिव्यक्त करता है। अतएव महत्वपूर्ण बात यह है कि सौन्दर्यात्मक मनोवैज्ञानिक पक्ष की सम्यक् समीक्षा के लिए ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय पक्ष परखना आवश्यक है। इसका दूसरा पहलू यह है कि मानव-सम्बन्ध, विश्वदृष्टि तथा जीवन मूल्य बदलते ही सौंदर्य के मान भी बदल जाते हैं। फलतः छायावादियों को ब्रजभाषा की कविता छींट की ओढ़नी

प्रतीत हुई। सूर और तुलसी के प्रति सम्पूर्ण आदर रखते हुए भी राम और कृष्ण उसके काव्याधार न हुए। न केवल विषय बदले, छन्द विधान भी बदल गये। अभिरुचि बदल गई।

अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है। वह यह कि अगर सौन्दर्य के मान और अभिरुचियाँ बदल जाती हैं तो फिर हमें पूर्वकालीन सौन्दर्य और अभिरुचियाँ बहुत बार क्यों आस्वादित तथा प्रभावित करती हैं। इसका स्पष्ट उत्तर हमें साहित्य के शाश्वत तथा अशाश्वत पक्ष के विश्लेषण से मिल सकता है।

हम एक उदाहरण लेंगे। तुलसीदास का रामचरितमानस हमें आज भी प्रभावित करता है। किन्तु क्या हमें तुलसीदासजी के आचार विचार प्रभावित करते हैं? नहीं। जिन सामाजिक नियम विधानों में राम रहे, क्या हम अपने लिए वे नियम विधान पसन्द करें? नहीं। फिर वे कौन-सी बातें हैं जो हमें प्रभावित करती हैं। वह है राम का व्यक्तित्व। किन्तु क्या हम उन मानव सम्बन्धों के बिना राम के व्यक्तित्व को समझ सकते हैं? बिल्कुल नहीं।

वे आचार विचार, वे नियम विधान, वे मानव सम्बन्ध हमें आज अपने अनुकूल न मालूम हों, किन्तु तुलसीदास और उनके प्रियपात्र राम की स्थिति उनके बिना असम्भव ही थी। तत्कालीन मानव सम्बन्ध, विश्व दृष्टि तथा जीवन मूल्यों के सर्वोच्च प्रतीक राम की मानवता हमें प्रभावित करती है। तुलसीदासजी तथा रामचन्द्रजी की वह उत्कृष्ट आन्तरिकता (जो तत्कालीन आदर्शों से बनी हुई थी) हम पर छा जाती है। किन्तु उनके भीतर जो तत्कालीन मानव सम्बन्ध हैं उनका कड़ा भी भंग न करते हुए राम ने निषाद और गुह से भी आलिंगन किया, शबरी के बेर खाये, केवट से दोस्ती की, वनवासी असभ्यों को गले लगाया। तत्कालीन मानव सम्बन्धों का वास्तविक निर्वाह उन्होंने अपने इन्हीं आदर्श क्षणों में किया। उनसे वे मानव-सम्बन्ध अधिक घनीभूत ही हुए। निषाद निषाद ही रहा, गुह गुह ही और राम का रामत्व अपने सम्पूर्ण सामन्ती मानवादर्श में जगमगा उठा। तत्कालीन मानव सम्बन्धों के घेरे के भीतर मानवता का जितना भी सर्वोच्चतम सम्भव था, उतना तुलसीदास के राम में समा गया। इसीलिए तत्कालीन समाज के आदर्श चरित्र राम हैं। राम की इस आदर्शमयी आन्तरिकता के चित्र—उनकी आन्तरिक मानवता के ये शिखर हमें आज भी द्रवीभूत करते हैं।

तत्कालीन नियम विधान, आचार विचार मर गये, किन्तु राम की मानवता हमारी संस्कृति की एक पुरानी मंजिल के रूप में आज भी खड़ी है। ये नियम विधान, ये आचार विचार निश्चय ही अशाश्वत हैं, किन्तु राम का चरित्र हमारे लिए मूल्यवान होने के कारण शाश्वत रहा। चूँकि हम भी अपने वर्तमान युग के सर्वोच्च आदर्शों, वर्तमान समाज के सर्वश्रेष्ठ मूल्यों को आत्मसात करने के लिए प्रस्तुत हैं अथवा उन्हें आत्मसात करना आवश्यक समझते हैं, इसीलिए हम उन

प्राचीनो से तथा उनका तत्कालीन पूर्णता से प्रेरणा प्राप्त होती है। चूंकि हमे उनसे प्रेरणा प्राप्त होती है हम अपने आदर्श-पथ पर वे प्रेरणा रूप म सहायक प्रतीत होते हैं इसीलिए वे हमारे लिए मूल्यवान हैं। यही कारण है कि हमारे लिए राम का चरित्र सुन्दर है और चूंकि हम यह विश्वास है कि वह आगे की पीढियो को भी इसी प्रकार प्रेरणा प्रदान करता जायगा, इसीलिए वह शाश्वत भी है।

किन्तु तत्कालीन नियम विधान आचार जो आज हम ग्राह्य नहीं हैं, जो बिलकुल मर चुके हैं जो अशाश्वत हैं, उनका प्रभाव कुछ रूढिवादियो पर अभी भी है। राम के चरित्र से उनकी आँखो मे आसू आते हैं वे सामन्ती विश्वदृष्टि के आँसू हैं। ऐसे लोग यदि सामाजिक राजनतिक, साहित्यिक क्षेत्र म सक्रिय हुए तो वे सामन्ती मानव सम्बन्धो विश्वदृष्टि तथा जीवन मूल्यो को, अपनी आवश्यकता के अनुकूल कुछ हेरफेर करके सामने रखते ह। रामचरित्र उनके लिए ढाल का काम करता है। तुलसीदासजी क साहित्य ने, वस्तुत हमारे रूढिवादियो क हाथ मजबूत किये और अगर नवयुग के उद्गाताओ ने उससे प्रेरणा प्राप्त नहीं की तो इसका कारण यह है कि उन्होंने रामचरित्र के प्रति सच्ची ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय दृष्टि नहीं रखी थी, उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक विश्लेषण तथा मूल्याकन नहीं किया।

ऐसा भी होता है कि कुछ विशेष युग खण्डो म तत्कालीन ऐतिहासिक सामाजिक स्थिति द्वारा नियन्त्रित जीवनादर्शों, मूल्यो तथा अभिरुचियो के कारण, न केवल साहित्य म गलत मूल्यो का प्रयोग होता है वरन उन गलत मूल्यो की कसौटी पर कसकर सत्साहित्य को साहित्य क्षेत्र से बाहर कर दिया जाता है। ध्यान मे रखने की बात है कि ब्रिटेन म डा जानसन सरीखे पुराणपथी विद्वानो की अभिरुचियो ने यूनानी नाटक के टेकनीक को आदर्श मानकर शेक्सपीयर के नाटको को घटिया साबित किया था। उठते हुए नवीन व्यापारी पूजीवादी वग तथा सामन्ती वग क समझौता म बनी हुई सापेक्ष्य सामाजिक स्थिरता के काल म शेक्सपीयर के सामन्ती चरित्रो की दु खान्त स्थिति के चित्रण को भला उन दिनो कौन कला रमक मान सकता था। जब ब्रिटेन म सामन्ती प्रभाव नष्ट हुआ, तब कहीं शेक्सपीयर की कला पर लोगो का ध्यान गया।

साहित्य क, सौन्दय के मान नित्य कालसापेक्ष्य रहे हैं, किन्तु इसका अथ केवल यही है कि हमारे यहा पहले साहित्य तथा सौन्दय की जो कल्पनाएँ थीं उनके हमारे लिए जो मूल्यवान अग थे उनको ही अपने म समाहित किया। तथा व हमारी परम्परा म समा गय।

साहित्य तथा कला मे मूल्यवान क्या है और क्या नहीं इस प्रश्न का उत्तर भी काल सापेक्ष्य ही है, किन्तु यदि हम सम्पूर्ण मानव-समाज के विकास क्रम को

देखें तो पायेंगे कि मनुष्य समाज ने प्रत्येक नवीन समाज रचना में पूर्वकालीन समाज रचना से अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त की है। समाज रचना के आमूल परिवर्तन के बावजूद नया समाज पिछले समाजों की सर्वोत्कृष्ट देन को स्वीकार करता आया है। कई बार अन्धकार युग भी अपना चमत्कार दिखाते आये हैं जैसे कि योरोपीय मध्य युग में यूनानी वैज्ञानिकता तथा कलादर्श का स्वीकार नहीं किया गया। जब नवीन पूंजीवादी राष्ट्रवादी युग का आरम्भ हुआ, तब पुरानी यूनानी कला तथा उसका सम्यक उपयोग भी जहाँ-तहाँ किया गया। अगर हम वैज्ञानिक क्षेत्र में उतरें तो पायेंगे कि नवीन विचार पुराने वैज्ञानिक सत्यकणों को अपने में समाविष्ट किये हुए हैं इसीलिए वह प्राचीन विज्ञान से अधिक सम्पन्न भी है। किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में सत्यों के जिस संगठन को हम स्थायी कहते हैं, वह क्रमागत लगातार विकसित होती गई। आईन्स्टाइन के सापेक्ष्यवादी वैज्ञानिक सिद्धान्त ने न्यूटन के सिद्धान्त को अपने में समाहित कर गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का स्वरूप ही बदल डाला। किन्तु न्यूटन के अन्वेषणों और खोजों का अपना वैज्ञानिक महत्त्व तो है ही। इन अन्वेषणों और खोजों को हम अन्वेषण और खोज तभी कहते हैं जबकि वे यथार्थ की कसौटी पर ठीक ठीक उतरते हैं। ठीक यही बात कला की तथा उसके सौन्दर्य की है। यदि एक गुहा निवासी अपने औज़ार से किसी तत्कालीन वन्य पशु का भित्ति चित्र रेखांकित करता है तो उस पशु के साथ उसके जीवन सम्बन्ध के कारण उस पशु रूप में उसे जो तल्लीनता प्राप्त हुई उसके द्वारा वह न केवल अपनी अभिव्यक्ति कर रहा है वरन् अपने सामाजिक जीवन तथा उस पशु के साथ अपने सम्बन्ध को प्रकट कर रहा है। किन्तु पशु का रेखा चित्र प्रस्तुत करते समय वह केवल अपने सामने के पशु रूप में ही डूबा हुआ है। इस तल्लीनता के द्वारा ही वह इतना सुन्दर पशु चित्र बना सका है। उस पशु चित्र के सामाजिक मानवीय अर्थ अर्थान्तरों से वह उन अभिव्यक्ति-क्षणों में भले ही अचेतन रहे (मानव सम्बन्ध व्यक्ति-सत्ता से पृथक तथा स्वतन्त्र होते हैं। उन सम्बन्धों का वैज्ञानिक आकलन समाज के बौद्धिक विकास-स्तर पर निर्भर है) वह अपने सामाजिक अनुभव का एक अंग चित्र रूप में प्रस्तुत कर रहा है। चित्र अच्छे भी हो सकते हैं बुरे भी हो सकते हैं। चूँकि पशु को वह उससे स्वतन्त्र सत्ता में रखता है अतएव वह पशु उसके लिए बाह्य है। उसकी कला विषयक दृष्टि वस्तुपरक है भले ही वह आदिम चित्रकार यह न जाने कि वस्तुपरक क्या चीज़ है और आत्मपरक क्या!! वस्तुतः वह चित्रकार कला के माध्यम के बारे में अचेतन रहते हुए भी उसमें निष्णात होकर उसका विकास कर रहा है। चित्रकार की बाह्य वस्तु की जो अनुभूतियाँ हैं वे रंगों-रेखाओं के माध्यम से रेखा-बद्ध हो रही हैं। इन अनुभूतियों में उस बाह्य वस्तु के बारे में उसकी दृष्टि, अपनी भावना में उस पशु का महत्त्व और उसके सम्बन्ध में अपना जीवन अनुभव जो

सामाजिक अनुभव ह, प्रकट हो रहा है। रेखाकन क समय उसे यह सब नितान्त व्यक्तिगत प्रतीत होगा, किन्तु उसकी सवेदनाओं का मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक विश्लेषण करते समय उसकी कला का पूरा सामाजिक तल हमे दृष्टिगोचर होगा।

वह अपनी चित्रकला के वास्तविक प्रयास द्वारा न केवल व्यक्तिगत अनुभूति के माध्यम से सामाजिक अनुभव प्रकट कर रहा है, वरन् अचेतन रूप से, सौन्दय के मान भी स्थिर कर रहा है। ये सौन्दय के मान अपने अस्तित्व के लिए व्यक्ति गत अनुभूति के माध्यम से सामाजिक अनुभव पर आधारित हैं। सौन्दय के मानो की यह सामाजिक नाव जब खिसक जाती है, तब वे मान समाज से अलग तथा रिक्त हो जाते हैं।

हमारी परम्परा म उस मूल आदिवासी चित्रकार की यथार्थग्राही दृष्टि भी सम्मिलित है। वह दृष्टि हमारे लिए अभी भी अक्षत इसके विपरीत एक आधुनिक चित्र लीजिए। 'मदर विद ए डेड चाइल्ड' एक बहु प्रशसित चित्र ह। गोल रेखाओं स स्त्री का उदर बनाया गया है। गर्भ म, एक भ्रूण के आकार की रेखाएँ खींची गई ह। बच्चे के दो सिर बनाए गये है। एक सिर गर्भ के भीतर नीचे की ओर, वाम भाग म अटका हुआ है, एक जननेंद्रिय के बाहर निकला हुआ है। योनि स दो रेखाएँ भयानक गोलाई से खींचकर उनको पुरुष मुख के आकार म परिणत कर दिया है। इस पुरुष मुख को भयानक कष्ट ग्रस्त पीडा की चीत्कार का आकार दिया गया है।

सारा चित्र एक निसनी पर बैठाया गया है। उदर के नीचे के दो पर उस निसनी पर इस तरह रखे हैं मानो वे मध्यस्थ उदर के फटन की क्रिया को बतलाते हैं। एक पर उदर क ऊपर के भाग की तरफ से निसनी क निचले भाग की तरफ लाया गया है। इस प्रकार इस चित्र के तीन पर है जो किसी भी मनुष्य के नहीं होते। ध्यान म रखने की बात ह कि यह चित्र समझने म सबसे आसान और उत्कृष्ट माना गया है।

आधे घण्टे तक मैं इस चित्र को देखता रहा, किन्तु मुझे कुछ भी समझ में नहीं आया। फिर मैंने यह सोचा कि यह पेंटिंग नहीं है चित्र नहीं है चित्र भाषा है प्रतीक भाषा है तो मैं इसके प्रतीकों का अर्थ पहचानने की कोशिश करने लगा। धीरे धीरे मन म एक भाव चमका और उसके अनुसार, जब मैं उसके सम्पूर्ण प्रतीक अवयवों का अर्थ समझने की कोशिश करने लगा तब सब बातें साफ खुल गई।

स्त्री का केवल उदर और उसके नीचे का हिस्सा ही बतलाया गया है। चित्रकार आपका ध्यान केवल गर्भ पीडा की तरफ खींचना चाहता है। इसीलिए योनि से दो रेखाएँ खींचकर बाहर जो पुरुष मुख बनाया गया है उसम पीडा की

भयानक चीत्कार का भाव भरा गया है। पुरुष मुख क्यों? इसलिए कि कष्ट, पीड़ा, चीत्कार आदि चित्रों के अनुसार पुरुष भाव है। यह मुख योनि से क्यों सम्बद्ध किया गया? इसलिए कि उसी भाग में भयानक पीड़ा है। दो पैरों के जंघामूलों के पास पड़ने से भी यही भाव प्रकट होता है। ये पैर निसनी में क्यों चिपकाए गए हैं, मानो शरीर सिर नीचे पैर ऊपर निसनी पर चढ़ रहा हो। इसलिए कि वेदना शरीर के ऊपरी भाग से नीचे की तरफ बढ़ रही है जो अब बिलकुल नीचे की तरफ जाकर (अर्थात निसनी के ऊपर की तरफ) योनि द्वार में पुरुष मुख द्वारा भयानक चीत्कार कर रही है। निसनी इस प्रकार बनाई गई है मानो वह पीड़ा की मात्राओं को बतलाती हो। यही उस निसनी का महत्त्व है। फिर एक बहुत छोटा पैर पेट के ऊपर की तरफ निसनी की निचली सीढ़ी से क्यों चिपकाया गया है? इसलिए कि वेदना-सूक्ष्मावस्थाएँ उसी हिस्से से शुरू हुई थीं। गर्भ के भीतर बालक का एक सिर गर्भ के बाहर दूसरा सिर अन्दर क्यों बनाया गया है? इसलिए कि यह मृतभ्रूण भयानक दानवीय पीड़ा के रूप में माता के गर्भ से बाहर निकलने में अनेक स्थानों पर अवरोधों का सामना कर रहा है।

सारे चित्र की जान योनिद्वार से बाहर दूर तक निकला हुआ भयानक पीड़ा और चीत्कार से पूर्ण यह पुरुष-मुख है जो रेखा चित्रों के सौन्दर्य मानों के अनुसार बना है, शेष सब मात्र चित्र भाषा प्रतीकों के समान खींचे गये हैं।

प्रयोग के तौर पर जब मैंने यह सुप्रसिद्ध चित्र पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त लोगों के बीच घुमाया तो पाया कि उनके चेहरे पर केवल पहेली बुझौवल के प्रयास मात्र के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। उनके लिए वह उतना ही कठिन था जितना मेरे लिए डिफरेंशियल कैलक्यूलस। जब मैंने हल्की सी सूचना देते हुए उनको कुछ संकेतों का सार बतलाया तो सभी बातें आप ही आप उनके सामने खुल गईं। ध्यान रहे कि मुझे स्वयं चित्रों के चित्र रहस्य समझ में नहीं आते। यह तो भाग्य की बात है कि यह चित्र समझ में आ गया। उसका जो अर्थ मेरे सामने खुला वही सही था या नहीं, मैं नहीं जानता, किन्तु यह सच है कि वह उसका एक सम्भावित स्पष्टीकरण है। यह मानकर चलिए कि जिस चित्र का मैंने ऊपर वर्णन किया वह अत्यन्त प्रसिद्ध तथा बहुप्रशंसित चित्र है।

हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि आखिर गर्भ पीड़ा का विषय ही क्यों चुना गया? दूसरे, उसको इस स्वरूप में क्यों रखा गया?

आदिवासी कलाकार की यथार्थ-दृष्टि हमारी चित्रकला-परम्परा में इतनी खो गई है कि हम उन यथार्थ सूचक प्रारम्भिक प्रयासों को भूल गये हैं। किन्तु चित्रों में इन प्रयासों को कहाँ स्थान दिया जायगा और वह किस प्रकार की भाषा में था, यह भी तो एक मूलभूत प्रश्न है।

संक्षेप में उत्तर यह है—ह्रास के अत्यन्त सम्पन्न उच्चवर्ग अथवा उसके प्रभाव में रहने वाले वर्ग की निरुपयोगिता तथा गतिहीनता अगर कुछ सृजन कर भी सकती है तो वह मृत सृष्टि ही है। इस गतिहीनता की भयानक वेदना से पिकैसो ग्रस्त है। इसलिए वह विद्रूप की पीड़ा का अध्ययन करता है, जिसका एक उदाहरण यह चित्र है। उस वर्ग के भीतर जो कुछ भी मनुष्यता शेष है, उससे पिकासो का तादात्म्य नहीं है। वह मात्र विद्रूप और उसके भीतर कष्ट पाने वाले मनुष्य प्राण को लेकर चला है। पिकासो का मूल विषय सामाजिक अनुभवों का मनुष्य प्राण भी नहीं है, वरन उसका वह भयानक पीड़ा है जो स्वयं गतिहीनताओं में उत्पन्न है और जो गतिहीनताओं को जन्म देती जा रही है। उसका विषय मृत सृजन की पीड़ा है। परम्परागत चित्रकला के सम्पूर्ण सिद्धान्तों की अवहेलना कर, उसने स्वेच्छापूर्वक मुक्त रेखाएं खींचकर एक पुरुष मुख बनाया है जो उस पीड़ा का अभिव्यक्त करता है। पिकासो के लिए, मनुष्य के हाथ पैर, आँखें कान विशेष महत्त्व नहीं रखते। वास्तविक जीवन में इन अवयवों का जो काय है उसको खतम कर उसने उन पर अपनी कल्पना द्वारा निर्मित कार्यों को थोपा है। कुल मिलाकर, भारत के तांत्रिक योगियों की सख्या भाषा के समान ही, पिकासो की चित्र भाषा हो गई है। ध्यान में रखने की बात है कि कोई भी प्रतीक तभी तक भावोत्तेजना की शक्ति रखता है जब तक कि उसकी जड़ें सामाजिक सामूहिक अनुभवों की धरती में समायी हुई हों। मात्र व्यक्तिगत धरातल पर तो हजारों प्रतीक खड़े किये जा सकते हैं।

कला के इस विश्लेषण से हमारे सामने दो बातें और साफ हो जाती हैं। कला यद्यपि व्यक्तिगत आधार पर होती है, किन्तु उसकी चेतना उस वर्ग में समाहित तथा उसमें विकसित है जिसके भीतर रहकर कलाकार ने अपने अनुभव प्राप्त किये हैं। उसकी गतिहीनता पिकासो के लिए मर्मभेदी है किन्तु उससे ऊपर उठकर उसने उस गतिहीनता पर कोई परिप्रेक्ष्य नहीं अपनाया। यहाँ तक कि ऐसा प्रतीत होता है मानो वह उस पीड़ा में आत्मघाती विकृत आनन्द ले रहा हो। किन्तु, इस प्रकार के कथन से किसी भी कला या कलाकार का महत्त्व कम नहीं होता। कला का श्रेष्ठत्व अपने युग की अनिवार्य उपलब्धि के रूप में उस अनिवार्यता के परिणाम के रूप में उपस्थित होता है। पिकासो की महानता सर्वसम्मत मानी जाती है। उसके चित्र का अर्थ करना मेरे लिए दुःसाहस है। मैं क्षमा चाहता हूँ। मैंने यह दुःसाहस अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण के रूप में किया। मुख्य बात यह है कि प्रतीक विधान जैसा हो, उसे यथार्थ पर आधारित तथा यथार्थ बोध में सहायक होना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के सिलसिले में हम केवल एक बात और कहना चाहते हैं। उसके बिना हमारा वक्तव्य अधूरा ही रहेगा। वह यह कि अगर साहित्य की महत्ता

वास्तविक जावन मूल्या म प्रगतिशाल योग देने म ही ह तो यूनानी तया रोमन नग्न शिल्प मूर्त्तियो के बारे म आपका क्या खयाल ह ?

इसका उत्तर स्पष्ट ह। शरीर सौदय का विकास मनुष्य की स्थायी इच्छाओं मे स एक ह। यदि य स्थायी वत्तियाँ न होती तो विकास ही न होता। यदि ये स्थायी वत्तियाँ न होती तो मनुष्य मनुष्य न होकर कुछ और होता। मनुष्य की य स्थायी वत्तियाँ विभिन्न सामाजिक स्थितिया म विभिन्न रूप तथा विभिन्न महत्त्व प्राप्त करती रहती हैं। कही कही उनका रूप अत्यन्त विकृत भी हो जाता ह। ध्यान म रखन की बात है कि हमारे भारतीय साहित्य म विपरात रति की भी घोषणा की गई ह तथा मग्न सिहासन का जिक्र आया ह। हिन्दी के एक कवि कालिदास कहते है—

मेरे कर महदी लगी है नन्दलाल प्यारे
लट उरझी है नक बेसर सभारि द।

इस पक्ति म मात्र कामुक गूंज ह। किन्तु जहाँ यह नही ह वहाँ भी प्रम का वणन मधुर हो उठता ह।

जस—

अति रस लम्पट मरे नन
तृप्ति न मानत पियत कमल मुख सुन्दरता मधु ऐन।

अथवा—

यह रितु रूसिबे की नाही।
बरसत मेघ मेदिनी क हित
प्रीतम हरषि मिलाहीं।
जेती बेलि ग्रीष्म रितु डाही
त तरुवर लपटाहीं।
ज जल बिनु सरिता त पूरन
मिलन समुदहि जाहीं।
जोबन धन है दिवस चारि को
ज्यो बादरि की छाहीं।
मैं दम्पति रस रीति कही है
समुझि चतुर तन माहीं।
यह चित धरि तेरो सखी राधिका
द दूती को बाँहीं।
सूरदास उठि चलहु राधिका
मग इती पिय पाहीं॥

उपयुक्त काव्य-पक्तियो म हमारी बात सुस्पष्ट हो जायगी। मनुष्य की

स्थायी वृत्तियाँ तो इसमें प्रकट हैं ही उनमें उन स्थायी वृत्तियों के जीवन मूल्य, जो मानव मूल्य हैं, प्रकट हैं। यही कारण है कि सूरदास का काव्य अपने सर्वोच्च सौन्दर्य-क्षणों में अत्यन्त मानवीय है।

जिस वर्ग अथवा समाज में ये जीवन मूल्य नहीं हैं जहाँ व्यक्तिगत प्रेम परिणय के अधिकार तथा उससे निसृत सामाजिक उत्तरदायित्व की मान्यता नहीं है वहाँ ऐसी स्थितियों में भ्रष्टाचार फैलेगा, प्रेम परिणय अधिकार के अभाव में अथवा सामाजिक उत्तरदायित्व के अभाव में। वहाँ वेश्या व्यवसाय तथा भ्रष्टाचार की व्यापकता तो होगी ही, वह सही कविता भी आयगी तथा काव्य से ऐसी गूँजें निकलेंगी—

अंबुज कंज से सोहत हैं अरु कंचन कुंभ भरे से भये हैं।
बार बार गदकारे महा बटपारे लस अरु मन छये हैं॥
ऊँच उजागर नागर है अरु पीय के चित्त के मित्त भये हैं।
है तो नये कुल के सजनी पर जो लौं नए नहीं तौ लौं नये है॥

इस प्रकार अत्यन्त कामुक भाव के सैकड़ों उदाहरण हिन्दी साहित्य से दिये जा सकते हैं। जिस वर्ग तथा समाज में प्रेम के समान साधारण मनोवृत्तियों पर दबाव होता है, उस वर्ग में न केवल दासीत्व के आदर्शीकरण पर प्राप्त विवाहिता स्त्री ही कष्ट भोगती है वरन् अधिकारी पुरुष के जीवन मूल्य भी अस्वस्थ और रुग्ण हो उठते हैं। ऐसे समाजों में स्त्री की दशा केवल यही होती है—

आँचल में है दूध, और आँखों में पानी।
अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी॥

अधिक से अधिक नारी के आदर्शीकरण के सम्बन्ध में पुरुष यह कहता है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत-नग पग तल में
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।

दोनों में वह पुरुष की सहचरी नहीं है। वर्ग-समाजों में पहले स्त्री की स्वतन्त्रता की हत्या की गई। उसे 'देवी' बनाया गया या दासी, अथवा वेश्या। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। लक्ष्मण के प्रति उर्मिला का यह कथन सहचरत्व की मानव भावना को ध्वनित करता है—

खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम।
चाहती है एक तुमसा पात्र हम॥
आन्तरिक सुख दुःख हम जिसमें धरें।
और निज भवभार यों हलका करें॥

इन चार पंक्तियों में, मैथिलीशरण गुप्त जैसे बुजुर्ग कवि ने प्रत्येक स्त्री के

मन की बात कही है। वास्तविक सत्यपरता—चाहे वह मत्रा हो अथवा न हो—आन्तरिक सुख दुःखो का पारस्परिक प्रेषणीयता के बिना असम्भव ही है। इस पारस्परिक साम्य की भावना के बिना हमारे बिना ही आस्ताय परिवार रह रहा है। कालिदास का दुष्यन्त बहु विवाह प्रणाली से ग्रस्त है, किन्तु जहाँ तक शकुन्तला से उसके प्रेम का प्रश्न है वह अत्यन्त सरल स्वाभाविक तथा रम्य है। इसलिए हम उसकी ये पंक्तियाँ अच्छी मालूम होती हैं—

> कार्यासैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी ।
> पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ॥
> शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः ।
> शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥

कृष्णमृग का चित्र खड़ा करके दुष्यन्त शकुन्तला के सम्बन्ध में अपनी इच्छा को ही प्रकट कर रहा है। पूरा चित्र मूर्त वास्तव यथार्थ पर आधारित है। किन्तु, वह मूर्त वास्तव यथार्थ एक ही साथ दुष्यन्त शकुन्तला के सौन्दर्यलोलुपूर्ण मनोजगत तथा उस मनोजगत् की गहन और सुन्दर इच्छाओं को व्यक्त करता है। संक्षेप में वह एक ही साथ मूर्त यथार्थ चित्र है, और निगूढ़ इच्छाओं का प्रतीक चित्र। हमारी सांस्कृतिक परम्परा में से हम वही भाव आकर्षित करते हैं जो हमारे वर्तमान जीवन के आदर्शों तथा मूल्यों का निर्माण करने में योग देते हैं, तथा वर्तमान जीवन मूल्यों की स्थिति रक्षा करते हैं। यदि हमारे वर्ग तथा समाज में गलत जीवन मूल्य प्रचलित हैं तो हम पुराने साहित्य से केवल उन्हीं के अनुसार अपने लिए चुनाव करते हैं। उदाहरणतः एक हिन्दी के नौजवान कवि ने अपनी कहानियों में, उरोजों का एक कपोतों की उपमा दी है जो उड़ने के लिए मानो तैयार बैठे हों। अब इस भाव को पजनस की निम्नलिखित पंक्ति से मिलाइए—

> उरज उठौना चक्रवाक के छौने कधौं
> मदन खिलौना या सलौना प्रानप्यारी के।

स्पष्ट है कि उस नौजवान कवि ने अपनी कहानी में चक्रवाक को केवल कपोत बना दिया है। बात वही है।

वर्तमान युग में हम पुराने साहित्य के प्रति व्यापक आकर्षण नहीं रह गया है जिसमें संकुचित (अथवा वह लीजिए साम्प्रदायिक) धार्मिक भाव हो चाहे वे कबीर के हों या किसी दूसरे के। इंगला पिंगला, सुषुम्ना अनहद नाद आदि पारिभाषिक शब्दावली मन में विशेष भावोत्तेजन नहीं करती। जन मानस की व्यापक दृष्टि से देखने पर यह पता चलता है कि बहुत सी धार्मिक कल्पनाएँ भी आज मृतवत् हैं तथा अभिरुचि भी बदल गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक विशेष युग में विशेष प्रकार के साहित्य के श्रेष्ठ अस्तित्व मात्र से वह साहित्य हर युग के लिए उतना ही विशेष आकर्षण रखे, यह आवश्यक नहीं है। इसीलिए,

साधारणतया, श्रेष्ठ माने जाने वाले साहित्य पर भाषण इत्यादि होते है, किन्तु भाषणकर्त्ताओं से एकान्त में यदि जानकारी ली जाए तो उनमें से पचास फीसदी यह कहेंगे कि केवल बचपन में या गुरु की जवानी में उन्होंने उस 'श्रेष्ठ' साहित्य को पढ़ा था। ध्यान में रखने की बात है कि तुलसीदासजी का रामचरितमानस भी अब लोगों के लिए उतना आवश्यक नहीं रह गया है जितना कि वह पहले था। साहित्य की श्रेष्ठता मात्र ही उसके नित्य आकर्षण का आधार नहीं है। उसकी श्रेष्ठता का युगयुगीन आधार है—वे जीवन मूल्य तथा उनकी अत्यन्त कलात्मक अभिव्यक्ति जो मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा उच्चतर मानव विकास के जीवन मूल्यों का प्रतिपादन करने वाले गोरखनाथ या तुलसीदास ही क्यों न हों। इन जीवन मूल्यों का मैं मात्र राजनैतिक अर्थ नहीं लगा रहा हूँ, उसमें वे सभी मूल्य सम्मिलित हैं जो मनुष्य के विभिन्न पक्षों का दिशानिर्देशन करते हैं जैसे प्रेम, न्याय, प्रेम इत्यादि से सम्बन्धित मूल्य। साराश यह कि पुराने साहित्य का केवल वही श्री-सौन्दर्य हमारे लिए ग्राह्य होगा जो हमारे नवीन जीवन मूल्यों के विकास में सक्रिय सहयोग दे अथवा उनकी स्थिति रक्षा में सहायक हो किन्तु यदि ये जीवन मूल्य स्वयं हमारी ह्रास-ग्रस्त दशा से उत्पन्न हैं, तो हमारे नवीन भावों के अनुकूल वह श्रेष्ठ साहित्य न होने से हम उसका आदर करते हुए भी उससे रस न ले पायेंगे। शुद्ध साहित्यिक-सौन्दर्य, मात्र-सौन्दर्य निरपेक्ष सौन्दर्य की निरपेक्ष-सत्ता स्वीकार करने वाले लोग या तो स्वयं धोखे में हैं अथवा धोखा देना चाहते हैं।

ऐसे लोग सौन्दर्य के मानों को उनके सामाजिक सम्बन्धों से दूर करके ही देखते ही हैं। वे चित्रकला संगीत, शिल्प तथा स्थापत्य कला के सौन्दर्य के दृष्टिकोण से साहित्यिक सौन्दर्य की व्याख्या करके उसके नित्य आकर्षण की काल-निरपेक्षता सिद्ध किया चाहते हैं। वस्तुतः चित्रकला शिल्प आदि कलाएँ अपनी रेखाओं और गठन की मनोहारिता के साथ साथ विशेष भावों और भाव-दृष्टियों को प्रदर्शित करती हैं। किन्तु जहाँ यह गठन और भाव अधिक कला ग्रस्त तथा अन्तराभूत हो जाते हैं उनका आकर्षण भी हमारे लिए कम हो जाता है। आगे चलकर उनकी अपील तो हमारे लिए केवल आलंकारिक हो जाती है। निश्चय ही, यह विचार तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक धार्मिक मूल्यों की हम्नि ग्रस्त अवस्था की जड़ता से उत्पन्न है। किन्तु यदि उस कला में जीवन भावों का प्रस्फुरण है तो हम उनकी धार्मिक कल्पनाओं के बावजूद, उनसे प्रभावित होते हैं। वस्तुतः प्रभावित होते समय हम उनकी धार्मिक सीमाओं को अचेतन रूप से अपने मन से हटाकर उनके आकर्षण का ग्रहण करते हैं। जितना अधिक उनका आकर्षण होगा उतना ही प्रभाव अधिक होगा उतना ही अपने अपने

का व्यवहार होता है तब हमारे रसास्वादन में बाधा होता है किन्तु कवि-नाटककार ने अपनी निपुणता के तथा कला विवेक के सचेत प्रयोग द्वारा उन पद्यों को पात्र तथा कथा के विकास में योगकारी बना दिया है मनोहारी तो उन्हें बनाया ही है। रामचरितमानस के बहुत से अंशों को हम इसीलिए नजर अन्दाज करते हैं कि उनके बिना तुलसीदासजी का भाव जगत ही हम ग्रहण न कर पाते। किन्तु बाधा तो होना ही है। यह बाधा चित्रकला तथा शिल्प में भी होती है।

किन्तु यह कहकर हम इस बात को नहीं टाल सकते कि अनगिनत अतीत युगों की कला के सौन्दर्य मानों को देखकर हम क्यों न ऐसा एक सौन्दर्य मान तय करें कि जिसमें बाधा जनक तत्त्व कुछ भी न हो। वस्तुतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से भी मन में भरा हुआ है। इस प्रश्न को स्वीकार मन में सहज रूप से यह भाव उठता है कि ऐसा कोई सार्वभौम सौन्दर्य मान तय हो सकता है। उस सार्वभौम सार्वकालिक सौन्दर्य मान की तुलना हम विज्ञान के उन सिद्धान्तों से कर सकते हैं जो मनुष्य की सत्ता न रहने पर भी प्रकृति के नियम रूप में सक्रिय रहते हैं। इस सम्बन्ध में यह जान लेना जरूरी है कि सौन्दर्य एक जीवन मूल्य है। उसका उद्गम मनुष्य के भीतर संवेदना के उन्नतीकरण से है। यह उन्नतीकरण अन्य प्रधान जीवन मूल्यों के संयोग से ही सम्भव है। उसके बिना असम्भव है। यही कारण है कि सामाजिक जीवन में अपने मनोभावों का उन्नतीकरण हम कलात्मक सौन्दर्य से भी अधिक प्राप्त करते हैं। ... सौन्दर्य में ... भाव में उभर कर सौन्दर्य में न ... वस्तु रहती है वरन् उन संवेदनाओं का ... उन्नतीकरण ... मूल्यों के पुन मिल जाने से प्रसूत होता है ... प्रतिक्रियाएँ घटना-वस्तु का प्रकट न कर सकें। ... प्रक्रियाओं के ... भावों का प्रकट करने के ... विविध ... उन सभी

इन उन्नतीकरण के बिना ... विविध वस्तु के यथार्थ ... करता है। ... यथार्थ के प्रति—... अथवा कलाकार के ... वस्तु ... तथा यथार्थ भाव-... भी आवश्यक है ... विभिन्न यथार्थों के ... जीवन में ... विशिष्ट स्थान ... कलाकार ... जीवन में ... —... विषय-वस्तु पौराणिक ... न हो—उसका विषय-वस्तु ... जीवन का उन्नतीकरण ... उत्कृष्ट ... का निर्माण ... ।

प्रश्न है। कुछ लोग अपनी उन्मुक्त, अहम्मन्य कामेच्छाओं को, पौराणिक कला या चित्र द्वारा, ऐसे आदर्श रूप में प्रस्तुत करते है, मानो वह भयानक काम व्याकुलता मनुष्य के आध्यात्मिक भाव की द्योतक है। ऐसा उदात्तीकरण, 'निराकृत उर्वशी' में देखा जा सकता है।

संक्षेप में जिन मनोवेगों का जितना और जैसा उदात्तीकरण होगा उसका सौन्दर्य उतना ही घटिया या बढ़िया होगा। इस उदात्तीकरण के लिए दूसरे जीवन मूल्यों का उसमें मिश्रण तथा संगति आवश्यक है, तभी वह उदात्तीकरण है। यदि ये जीवन मूल्य गलत जीवन मूल्य, शोषक वर्ग-बद्ध जीवन मूल्य हुए तो जो उदात्तीकरण होगा वह भी अनुचित अमंगल होगा, तत्कालीन स्थिति में भले ही वह उपादेय तथा उचित सिद्ध हो। इस प्रकार का उदात्तीकरण हमारे लिए आकर्षण की वस्तु नहीं। किन्तु शोषक शासक वर्गों में भी बहुत बार, उनकी विशेष परिस्थितियों में तथा जनमत के दबाव के कारण, उनके विशेष क्षेत्रों में विशेष जीवन मूल्य भी हो सकते हैं जो तत्कालीन परिस्थितियों में प्रगतिशील सिद्ध हों जैसे उसमें सामन्ती नामक महान् पीटर अपने देश की उन्नति के लिए अनेक प्रगतिशील देशोत्थान मूलक कार्य करता है। ऐसी स्थिति में जिन जीवन मूल्यों ने उसे देशोत्थान के काम में लगाया वे जनता के अनुकूल थे। अतः वे प्रगतिशील थे। सामाजिक प्रगति विरोधी जीवन मूल्य गलत जीवन मूल्य भी हैं भले ही वे अनेक मनोहर नाम रूप धारण करके हमारे सामने आयें। गलत जीवन मूल्यों से संयुक्त उदात्तीकरण रिक्त सौन्दर्य होगा या सौन्दर्य ही नहीं होगा—और कुछ भले ही हो तथा कुछ लोगों को उसमें सौन्दर्य भले ही दिखाई दे। मनोवेगों का सच्चा उदात्तीकरण सही जीवन मूल्य संयुक्त मनोवेगों से ही हो सकता है अन्यथा नहीं। ये जीवन मूल्य कलाकार के वास्तविक जीवन से तथा उनके आधार पर बनी हुई भाव दृष्टि से सम्बद्ध हैं। इस दृष्टि के बिना तथा सचेत वास्तविक जीवन के आधार के बिना, कृत्रिम रूप से मात्र बौद्धिक प्रणाली से अथवा काल्पनिक रीति से किया गया जीवन मूल्यों का सम्मिश्रण रिक्त सौन्दर्य को जन्म देगा अथवा उसमें सौन्दर्य ही नहीं होगा। इन सही जीवन मूल्यों का भावात्मक हार्दिक अन्तःकरणमूलक समस्त-व्यक्तिगत उत्साहशील ग्रहण तब तक सम्भव नहीं है जब तक लेखक अथवा कलाकार प्रगतिशील मानवीय जीवन मूल्यों से तथा उनका वहन करने वाली शक्तियों से और समाज के उस पक्ष से जिसकी हम जनता का पक्ष कहते हैं अपने को तदाकार नहीं कर लेता। किन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि सब युगों में यह सम्भव नहीं है क्योंकि जनता यदि निद्रावस्था में लीन है यदि उसके भीतर उसके अपने तीव्र भावों का वहन करने वाले महापुरुष या प्रतिभाशाली प्रतिनिधि उत्पन्न नहीं हुए हैं, अथवा ऐसी परिस्थिति पैदा हुई है कि जिसमें उसके इन प्रतिनिधियों का प्रभाव नहीं है—और उसका अपना स्व

का प्रभाव नहीं है—संक्षेप में यदि वह एक प्रायः अंधकार युग है तो ऐसी स्थिति में कलाकार भी प्रायः उसी युग के भावों का प्रतिनिधित्व करेगा। आज के युग में जन-जीवन के पक्ष से तदाकार होने की वास्तविक जागरूक सचेत प्रक्रिया लेखक के लिए बड़ी भारी नैतिक परीक्षा है। उसमें न केवल अपने भीतर पुराने और नये के बीच—(पुरानी आस्थाओं और नयी जीवनगत आवश्यकताओं के बीच—पुराने संस्कारों और नये सत्यों के बीच भावनात्मक धरातल पर व्यक्तिगत जीवन के सभी पक्षों व क्षेत्रों में) युद्ध छिड़ जाता है वरन् अपने वर्ग तथा समाज से द्वन्द्व युद्ध भी करना पड़ता है। इस मोर्चे पर बहुत कम ऐसे साथी होते हैं जो आन्तरिक [illegible] राम नाम स्मरण करते हुए भी सच्ची सहानुभूति तथा प्रेरणा दे सकें। इसके साथ ही कलाकार के इस नैतिक साहस के अतिरिक्त उसकी रचनाकारी क्षमता पर भी निर्भर रहेगा कि वह यथार्थ का कितना परस्पर सम्बन्धों से युक्त विवेकपूर्ण आकलन कर सकता है। कलाकार की, इस दिशा की ओर सक्रिय जितनी बड़ी दीक्षा होगी उतनी ही उसकी दृष्टि सम्पन्न तथा सक्रिय होगी। ठीक उसी के अनुमान या अनुपात में उसकी कला-सृष्टि भी सबल रहेगी। किन्तु साथ ही-साथ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि वास्तविक जीवन या वास्तविक परिस्थिति मात्र आत्म-सापेक्ष [illegible] नहीं है। उसका पूर्णतः वास्तविक समाज की प्रगतिशील शक्तियों के संघर्ष में सम्पूर्ण शामिल तथा सक्रिय योग देने की सर्वेन्द्रियशील कार्यकारी क्षमता के विकास पर निर्भर है। [illegible] इस बात पर भी निर्भर है कि वे प्रगतिशील शक्तियाँ समाज में कहाँ तक प्रभावशाली हैं साथ ही [illegible] कहाँ तक निश्चित और [illegible] कर सकते हैं।

इस स्थापना के सम्बन्ध में साधारणतः एक बहुत बड़ा प्रश्न पूछा जाता है। प्रश्न यों किया जाता है—क्या कालिदास ने आपकी ऊपर लिखी शर्तों का पालन किया था? किन्तु उनकी कला भी तो सार्वभौम सार्वकालिक है। शायद उनके सम्बन्ध में यह [illegible] कहा जा सकता था कि कालिदास अपने समय में प्रगतिशील हो सकते हैं तो फिर उनकी उच्चता में सन्देह नहीं है। किन्तु उनकी श्रेष्ठता आपकी शर्तों का पालन करने में नहीं हुई है।

इस सम्बन्ध में हमारा उत्तर संक्षेप में इस प्रकार है। यह शास्त्र या कला तो हम [illegible] हैं किन्तु हमारे वास्तविक [illegible] में मूलतः [illegible] नहीं बनता [illegible] श्रेष्ठ [illegible] भी [illegible] नहीं है। [illegible] कालिदास के [illegible] नहीं [illegible]। न मैं किसी स्थूल उपयोगितावाद का समर्थन कर रहा हूँ। मैं [illegible] हूँ कि [illegible]। यह स्थूल उपयोगितावादी वास्तविक भौतिकवाद से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। मनुष्य [illegible] [illegible] [illegible] श्रेष्ठ [illegible]

तथा सीमाओं में दिलचस्पी रखना आया है। निश्चय ही, जब हम कालिदास के काव्य का अनुशीलन करते हैं तो हम उस जीवन के सौन्दर्य चित्रों तथा तत्सम्बन्धी सूक्ष्म-दृष्टियों में आनन्द लेते हैं। कालिदास का काव्य हमारे लिए आज, आधुनिक अर्थों में प्रेरणाप्रद भले न हो, किन्तु हमारा रंजन करने की शक्ति तो उसमें इसलिए है कि बावजूद सामन्ती समाज के क्रिया-कलापों के चित्रण के मनुष्य-प्रेम तथा प्रकृति-प्रेम की उसमें जो तस्वीरें मिलती हैं उनकी पूर्वपीठिका में हमारे वर्तमान जीवन को रखने पर यह पता चलता है कि वैसा समाज चला गया और मानव-सुलभ प्रेम तथा प्रकृति-सौन्दर्य आज हमारे जीवन में नहीं रहा है? हमारे इस अभाव से भी कालिदास के प्रति हमारी अनुरक्ति बढ़ जाती है। किन्तु इस अभाव के अभाव में भी कालिदास के प्रति हमारी आसक्ति इसलिए स्थिर रहती है कि उसमें मानव-सुलभ प्रेम तथा प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति स्वाभाविक अनुरक्ति के दर्शन होते हैं। उसमें प्रेमी द्वारा प्रेमिका की भयानक उपेक्षा का जो विरोध कलात्मक माध्यम से प्रस्तुत हुआ है, वह हमारे जीवन-मूल्यों को दृढ़ करता है और हमारे हृदय को स्पर्श करता है।

वस्तुतः साहित्य की शाश्वतता का प्रश्न परम्परा के मूल्यांकन का प्रश्न है। हमारे पूर्वकालीन समाजों की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ, जिन्हें हम अमर कहते हैं, इसीलिए हमारे लिए मूल्यवान हैं कि उनके भीतर समाये हुए जीवन-तत्त्वों को हमने अपनी परम्परा में अन्तर्भूत कर लिया है। यह अवश्य है कि परम्परा में पूर्वकालीन जीवन-तत्त्वों को अन्तर्भूत करते हुए हमने उनका रूप ही बदल डाला है। मानव-सुलभ प्रेम तथा प्रकृति-सौन्दर्य में स्वाभाविक मानव-अनुरक्ति हमारी परम्परा का अंग है, किन्तु वह विलास उस परम्परा का अंग नहीं है। रीति-विलास उस परम्परा का अंग नहीं है—कालिदास के लिए भले ही वह महत्त्वपूर्ण हो। पुराने राजाओं के अन्तःपुर, उद्यान आदि के भीतर भोग-विलास या रंग-रहस्य के रूप में ही प्रेम के चित्र खींचे गये हैं, जिसमें सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास-परिहास और राजाओं की स्त्रैणता आदि का दृश्य होता है। उत्तर काल के संस्कृत नाटकों में इसी प्रकार के परम्परागत निःसार और विलासमय प्रेम का वर्णन हुआ है, जैसे 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका', 'कर्पूरमंजरी' इत्यादि में। इसमें नायक को कहीं बाहर वन, पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ा है, बस घर के भीतर ही छुन्ना-छिन्नी, चोरी-छिपे भगता दिखाया गया है। (जायसी ग्रंथावली की भूमिका, पृष्ठ ३६, रामचन्द्र शुक्ल) निश्चय ही, इस प्रकार की रति तथा प्रेम का हमारी परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। किन्तु इसके विपरीत भवभूति, कालिदास, कबीर, तुलसी, सूर, घनानन्द आदि के काव्य में हम जहाँ-जहाँ मनोहर सूक्ष्म दृष्टियाँ, जीवन-पक्षों का मार्मिक उद्घाटन तथा जीवन-विवेक दृष्टिगोचर होता है, वह सब साहित्य हमारी स्थायी सम्पत्ति है। यह साहित्य

केवल पुस्तकों म ही बधी नहा रहती, वरन वास्तविक पथदशक जीवन मूल्या के रूप म परिणत होकर हमारे उन जीवन मूल्यों को अधिक सम्पन्न कर हमारी परम्परा का अग बन जाती ह। कला कौशल का दृष्टि स, किसी काव्य का मनोरजक हा जाना एक बात ह—बिलकुल भिन्न बात ह उसका आवा मूल्यों के रूप म हमारे सामने आना। मात्र भावोत्तेजित करने वाला कला हमारे वास्तविक जावन पथ के लिए मूल्यवान भी हो यह आवश्यक नही ह। हमारे लिए मूल्यवान कला वह ह, जिसम मार्मिक जीवन विवक सूक्ष्म-दृष्टियाँ तथा जीवन के वास्तविक पक्षा का उदघाटन हो।

(२)

हम यह पहले ही कह चुके है कि साहित्य की केवल ऐतिहासिक अथवा स्थूल समाजशास्त्रीय विवेचना कर चुकने म जो आलोचक अपनी इतिकत्तव्यता समझ लेते ह व न केवल एकपक्षीय अतिरेक करते हैं वरन व, मनुष्य का विवेचन करने के स्थान पर केवल उसके अस्थि पजर को ही पाठका के सामने करके यह कहते ह कि देखो मनुष्य जो कुछ है वह यही है। वस्तुत अस्थि पजर के बिना मनुष्य का रूप ही असम्भव है। किन्तु जब तक उस अस्थि पजर तथा उस पर आधारित सम्पूर्ण शरीर को हम हृदयगम नही कर सके, तब तक हम उसके प्राणिशास्त्रीय महत्त्व का बोध नही हो सकता। किन्तु जब तक हम उसका अस्थिपजर नही समझते है तब तक शारीरिक अवयवों की तथा सम्पूर्ण शरीर की वज्ञानिक जानकारी भी प्राप्त नही हो सकती। यह हम पहले ही कह चुके ह कि मनुष्य की एतिहासिक सामाजिक सत्ता ने ही उसको अपने पूववर्ती नान पाशव स्तर स ऊपर उठाकर मानव स्तर तक विकसित किया तथा विभिन्न अधिकाधिक विकसित समाजों के उत्थान क्रम के द्वारा उसे अपने वतमान रूप तक पहुचाया है। इस एतिहासिक सामाजिक सत्ता द्वारा मनोवज्ञानिक रूप ही मानव चेतना है। किन्तु यह आवश्यक नहा कि एतिहासिक सामाजिक शक्तिया द्वारा उसकी यह जो चेतना विकसित है वह उन शक्तियों स स्वय सचेत हो। जब तुलसीदासजी की चेतना रामचन्द्र का चरित्र उपस्थित करती है तब तुलसीदासजी यह नहीं जान रहे कि वे वस्तुत रामचरित के द्वारा सामन्ती समाज के मानव सम्बन्धों को उपस्थित कर रहे ह। उन भाव सम्बन्धों का सामन्ती स्वरूप उनकी समस्त चेतना के बाहर है। किन्तु वह सामन्ती स्वरूप तो सत्य है ही—तुलसीदासजी उसे जान या न जानें।

तुलसीदासजी के लिए स्वभावत ही सष्टि तथा समाज के मूलविकास नियम नहीं थे। समाज की एक विशेष विकासावस्था म जब पूजीवादी समाज के भीतर मजदूर वग परिपक्व हो जाता है तब उसकी विचार धारा के रूप म द्वद्वात्मक भौतिकवाद उपस्थित होता है जो सष्टि तथा मानव समाज के मूल विकास

नियमों का वैज्ञानिक उद्‌घाटन करता है। तब से वैज्ञानिक पद्धति से समाज के रूपान्तर की कार्य प्रणालियाँ निर्धारित की जाती हैं तथा मानव विकास नियम मानव संकल्पों से पृथक तथा स्वतन्त्र हैं। समाजवादी समाज में भी वे मानव संकल्पों से स्वतन्त्र ही रहते हैं। पुराने तथा समाजवादी समाज में, इस सम्बन्ध में स्थिति भेद केवल यही है कि समाजवादी समाज में मनुष्य उन मूल विकास नियमों के प्रति जागरूक रहने के कारण अपने को उनके अनुसार सचेत रूप से ढालता चलता है किन्तु विकास नियमों को वह स्वयं बदल नहीं सकता। पुराने समाजों में वह इन नियमों से सचेत भी नहीं रहता। पूँजीवादी वर्ग इन नियमों के अस्तित्व को मानता ही नहीं, इसलिए कि वे नियम उसके उत्तरोत्तर ह्रास तथा अवश्यंभावी परिसमाप्ति की केवल घोषणा ही नहीं करते वरन् नियम गतिमान लक्ष्यानुसार ऐसी कार्य पद्धतियाँ भी निर्धारित करते हैं जो पूँजीवाद के अन्त तथा समाजवाद की स्थापना के वैज्ञानिक क्षेत्र में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा आदर्शवादी विचार धाराओं का यह युद्ध वस्तुतः श्रमिक-वर्ग के जनवाद तथा पूँजीवाद के बीच तुमुल-संग्राम है।

हम ऊपर यह कह चुके हैं कि पूर्वकालीन समाजों में समाज विकास के मूल नियमों का उद्‌घाटन न होने के कारण, साहित्यकार यह नहीं जान पाता था कि जिस समाज का वह चित्रण कर रहा है उसके मानव सम्बन्ध वस्तुतः उस समाज के मूल आर्थिक ढाँचे के रूप-स्वरूप में निहित तथा उससे उद्‌गत हैं। तुलसीदासजी यह नहीं जानते थे कि जिन मानव सम्बन्धों का वे चित्रण तथा आदर्शीकरण कर रहे हैं वह समाज सामन्ती समाज है। किन्तु ध्यान में रखने की बात है कि सामन्ती मानव सम्बन्धों तथा उनकी तत्कालीन स्थिति ने ही तुलसीदासजी की चेतना रूपायित की। अतएव तुलसीदासजी की साहित्यिक अभिव्यक्ति के मर्म को समझने के लिए उनके सन्देश तथा उनके काव्य सौन्दर्य के वास्तविक आकलन ग्रहण के लिए हम तुलसीदासजी का ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय विश्लेषण करना ही होगा। इसके बिना हम उनके वास्तविक महत्त्व तथा हमारे लिए उनके मूल्य का भी आकलन ठीक ठीक नहीं कर सकते।

हमारे वर्तमान साहित्य शास्त्रियों ने साहित्य समीक्षा की चार प्रचलित पद्धतियाँ बतलाई हैं—(१) साहित्यिक (२) मनोवैज्ञानिक (३) प्रभावाभिव्यंजक (४) प्रगतिवादी अथवा ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्यिक पद्धति को ही सर्वोत्तम माना है। वस्तुतः समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक पद्धति अपने भीतर इन चारों का समाहार करती है। यह बात अलग है कि हमारी वर्तमान ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय पद्धति अधिक विकसित न होने के कारण, जीवन में साहित्यिक अभिव्यक्ति के मनोवैज्ञानिक तथा कलात्मक पक्षों का सम्पूर्ण उद्‌घाटन न कर पाये। किन्तु प्रगतिवाद के विरोधियों ने

मनोवैज्ञानिकता के नाम पर झूठे मनोविज्ञान को गढ़ लिया। यदि प्रसादजी ने इड़ा को बुद्धि का प्रसार माना तो इन प्रगतिशील मनोवैज्ञानिकों ने इड़ा के विशिष्ट चरित्र का विश्लेषण न करते हुए स्वयं भी उसे बुद्धि का प्रसार मान लिया। यदि प्रसादजी ने मनु को मानव मन का प्रतीक माना तो इन साहित्य-शास्त्रियों ने मनु के विशिष्ट चरित्र की विशेषता न करते हुए स्वयं भी उसे मानव मन का प्रतीक माना, यद्यपि मनु स्वयं एक विशिष्ट प्रकार के स्वभाव वाले मानव का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, और मनुष्यों का नहीं।

ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय समीक्षा वस्तुतः दो भागों में विभाजित की जा सकती है—एक वह जो समीक्ष्य साहित्य के मनोभावों, जीवन-चित्रणों तथा उनमें प्रस्थापित जीवन-मूल्यों का विवेचन करते हुए मूल ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय उद्गम-स्थानों का विवेचन करता है तथा दूसरे जीवन-यथार्थ की कसौटी पर कसकर उनका मूल्यांकन तथा प्रभाव-मापन करता है तथा इस विवेचन के दौरान में जितने कला-विवेक सम्बन्धी प्रश्न उठते हैं उनका संक्षिप्त अथवा विस्तृत उत्तर देती चलती है। निश्चय ही यह बहुत बड़ा काम है जिसके लिए एक लेख नहीं वरन् एक बृहत् अथवा अनेक ग्रन्थ-ग्रन्थों के सृजन की आवश्यकता है। इस ओर अभी तक हिन्दी में विशेष रूप से कोई महत्वपूर्ण काम नहीं हुआ।

(३)

साहित्य विवेक मूलतः जीवन विवेक है। इसलिए जीवन से दूर अपनी आराम कुर्सी पर बैठा हुआ समीक्षक—बड़ा विद्वान ही क्यों न हो, जीवन का वैज्ञानिक विवेचन नहीं कर सकता, फिर उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति के विवेचन की तो बात ही क्या? बगैर जीवन को जाने, बगैर जिन्दगी को पहचाने जो आलोचक केवल जीवन की सूजा (साहित्यिक अभिव्यक्ति) का विश्लेषण करता है उसको किसी-न-किसी हद तक मान्यिकता का सहारा लेना ही पड़ता है। अर्थात् दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति जीवन की गतिमान प्रक्रियाओं को नहीं जानता, इन प्रक्रियाओं के साहित्यिक प्रतिबिम्ब के स्वरूप को भी नहीं पहचान सकता। जीवन से दूर आलोचक की मुश्किल इसलिए भी रहती है कि साहित्य के बाहरी रूप-विधान (छन्द इत्यादि) से पृथक् कला के भीतरी सृजन नियम भी होते हैं। ये गतिमान प्रक्रियात्मक नियम, जो वस्तुतः साहित्य-सृजन की मूल मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं और उनके अभिप्राय उस वक्त तक समझ में नहीं आ सकते जब तक आलोचक स्वयं उस जीवन को नहीं पहचानता जिसे लेखक उपस्थित करना चाह रहा है। सच्ची बात तो यह है कि आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह उस जीवन को लेखक से भी अधिक पहचाने तथा वह लेखक द्वारा कलात्मक रूप में उपस्थित जीवन तथा जीवन रूप में उपस्थित कला की सच्चाई, ऊँचाई या निचाई को पहचान सकता है। बहुधा ऐसा होता है कि स्वयं लेखक जिस जीवन

का कलात्मक रूप उपस्थित करना चाहता है उसे वह अधूरा ही समझता है (उसका उसे पूरा ज्ञान नहीं होता) अथवा उसे एकपक्षीय दृष्टिकोण से देखते हुए उसके किसी एक अंग को ज्यादा फुलाकर देखता है और उसके इस विकृत अथवा अर्ध विकृत रूप को उपस्थित करता है। निश्चय ही ऐसे मौके पर यह आवश्यक है कि आलोचक लेखक द्वारा कलात्मक रूप में प्रस्तुत जीवन को लेखक से भी अधिक पहचाने। तभी वह जीवन की एक पक्षीय अथवा विकार ग्रस्त उपस्थिति को उद्घाटित कर सकता है लेखक की मूलभूत अक्षमताओं और अविवेक का पर्दाफाश कर सकता है।

अब तक ऐतिहासिक, सामाजिक विवेचना स्थूल रूप से ही होती आई है। वह आलोच्य साहित्य के सामाजिक ऐतिहासिक परिवेश का तो यथातथ्य निरूपण कर देती है किन्तु लेखक के व्यक्तित्व के भीतर उसके सन्निवेश के मनोवैज्ञानिक मर्म को उद्घाटित नहीं करती। सच्चा ऐतिहासिक दृष्टिकोण वह है जो न केवल बाहरी स्थिति परिस्थिति को वरन साहित्य के मनोवैज्ञानिक तथ्यों को समाज की विकासात्मक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करता है तथा उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को विकास की गतिमान धारा की बीच की लहरों के बीच में उद्घाटित करता है।

भाववादी समीक्षा के प्रेरक छायावाद की केवल मनोवैज्ञानिक व्याख्या कैसे असंगत तथा असम्पूर्ण है यह यहाँ बतलाया जायगा। छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहना बेमानी-सा लगता है। यदि हम 'स्थूल' का अर्थ द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता ग्रहण करते हैं अथवा दैनिक-जीवन के लोक-व्यवहारात्मक पक्ष को लेते हैं, और 'सूक्ष्म' का अर्थ हृदय की निबिड गर्भस्थित इच्छाओं अथवा भावुक आकांक्षाओं और सुकुमारताओं को लेते हैं तो हमारे सामने तुरन्त ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर क्या व्यावहारात्मक अथवा (उसके नैतिक, साहित्यिक अभिव्यक्ति के) इतिवृत्तात्मक पक्ष के विरोध में यह तथाकथित सूक्ष्म उठ खड़ा हुआ? हमको यह जानना चाहिए कि छायावाद के पूर्व भी हजार डेढ़ हजार वर्ष के सामन्ती युग में प्रेम सम्बन्धी सुकुमार भावनाओं की कविता हुई थी और हृदय की कोमल वृत्तियों की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति भी उसमें हुई थी। कालिदास को कौन भूल सकता है? सूर के साहित्य को कौन आँखों की ओट रख सकता है? प्रेम के मतवाले सूफी कवियों और उर्दू शायरों को हम नजरअन्दाज नहीं कर सकते। मीरा जब लोकलाज खो देती है तब क्या उसमें स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं है? कबीर जब पंडितों और मुल्लाओं को डाँट देते हैं तब क्या वह स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं है? तुलसीदास जब समाज में यह देखते हैं कि 'नारि मुई सब सम्पति नासी। मूड़ मुड़ाये भये संन्यासी' अथवा वे जब यह कहते हैं कि ब्राह्मण शूद्र का काम कर रहे

है और शूद्र ब्राह्मणों का और उनके विरुद्ध वे राम का चरित्र लेकर वर्णाश्रम धर्म का आदर्श उपस्थित करते हुए भी यह कहते हैं कि राम को केवल अपने भक्त ही प्यारे हैं चाहे वे किसी भी जाति अथवा धर्म के हों तो क्या वे मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्य को भावुकता में गूँथकर उसको सुकुमार बनाकर तथा उसे दृढ़ता प्रदान कर तत्कालीन सामाजिक साम्प्रदायिक व्यवहार के विरुद्ध उपस्थित नहीं कर रहे थे ? मनुष्य के हृदय के जो तथाकथित सूक्ष्म हैं उनके तो मानव रूप हो सकते हैं अच्छे और बुरे दोनों। एक कबीर के हृदय का सूक्ष्म है तो दूसरा पद्माकर के कामुक हृदय का।

कबीर का सूक्ष्म निःसन्देह तत्कालीन समाज के अत्यन्त उच्च भावों का अग्रभूमि में उपस्थित किसी जागरूक सशस्त्र प्रहरी का काम करता है। इस सूक्ष्म के बल पर कबीर का मूल फक्कड़पन समाज की विषमताओं की मुट्ठी में दबे हुए गले को अपने को मुक्त कर लेने का सबक पढ़ाता है निम्न जातियों में आत्मगरिमा का संचार करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आपको यह बतलाना होगा कि छायावादी सूक्ष्म किसी प्रकार मध्ययुगीन सूक्ष्म से भिन्न है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो गया है कि वस्तुतः जिसे हम 'सूक्ष्म' कहते हैं वह यदि वस्तुतः सूक्ष्म है तो सामाजिक ऐतिहासिक विकास धारा का अंगभूत होकर ही वह सूक्ष्म है अन्यथा वह कुछ है ही नहीं। सामाजिक ऐतिहासिक शक्तियाँ जिस प्रकार बाह्य सामाजिक ऐतिहासिक स्थिति परिस्थिति निर्माण करती हैं ठीक उसी तरह वे व्यक्ति के भीतर प्रवेश कर उसके सूक्ष्म का निर्माण करती हैं। उसके सूक्ष्म को विकसित कर उसे बल प्रदान करती हैं। साहित्य की सामाजिक ऐतिहासिक व्याख्या सूक्ष्म के रूप-स्वरूप की ही वास्तविक व्याख्या है। उदाहरणार्थ हम छायावाद के तथाकथित सूक्ष्म का तब तक विशदीकरण नहीं कर सकते जब तक हम एक प्रकार उस मध्ययुगीन सूक्ष्म से भिन्न उसकी विविध विशेषताओं का निरूपण नहीं करते। इन विशेषताओं का निरूपण भी अधूरा सामाजिक ऐतिहासिक व्याख्या है जब तक हम यह नहीं बतलायेंगे कि ये विशेषताएँ उत्पन्न ही क्यों हुईं ? एक विशेष देशकाल और वर्ग में ही उनका आविर्भाव क्यों हुआ ?

हमारे यहाँ साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब माना गया है। किन्तु प्रतिबिम्ब तो निष्क्रिय होता है। इसके विपरीत बहुत सा ऐसा साहित्य है जिसने समाज के विचारों को बदल दिया उसे अग्रगामी और प्रगतिशील बना दिया। मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हरिनारायण आप्टे ने 'पण लक्षांत कोण घेतो' आदि सामाजिक उपन्यासों के द्वारा मध्यवर्गीय परिवार में सामन्ती उत्पीड़न के विरुद्ध नारी के जो करुण दृश्य सामने रखे उन्होंने महाराष्ट्रीय मध्यमवर्गीय स्त्री-पुरुष समुदाय की चेतना ही बदल दी।

आगे चलकर स्वयं स्त्री-साहित्यकारों ने ही अपने पीड़ित जीवन का चित्रण

उनके प्रति की गई वचनाओं और अन्यायों का अंकन किया तथा अपनी मुक्ति की खोज की। फलतः आज तुलनात्मक दृष्टि से महाराष्ट्रीय स्त्री अन्य प्रान्तीय स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है चाहे वह निरक्षर ही क्यों न हो। बंगाल में शरद ने अपने नारी पात्रों के गम्भीर अन्तःस्वरूप का उद्घाटन तो किया किन्तु शरच्चन्द्र की कमला को छोड़, उनके किसी स्त्री पात्र ने पुरुष की नारी सम्बन्धी सामाजिक धारणाओं और भावनाओं को इतना नहीं झिंझोड़ा। परिस्थिति वैषम्य से धक्का खाते हुए विकसित होने वाली चरित्र की भीतरी गम्भीरता हम चाहे जितना चित्रित करें, वह गम्भीरता न तो परिस्थिति के वैषम्य का औचित्य ही है, न वह गम्भीरता परिस्थिति के वैषम्य को धक्का देने के लिए पाठक को मजबूर ही कर पाती है किन्तु वह गम्भीरता हमें उन वैषम्यों की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य करती हो ही यह आवश्यक नहीं है। शरद का पाठक नारी के चरित्र का गम्भीर सौंदर्य देखता है, उस गम्भीरता के पीछे की मजबूरी और उसके कारणों की ओर नहीं खिंचता। आखिर इसका कारण क्या है? कारण है बंगाल की जमींदारी प्रथा से आक्रान्त मध्यमवर्ग की सामंती लौह शृंखलाएँ।

तात्पर्य यह कि जब तक हम समीक्ष्य साहित्य का मनोवैज्ञानिक सौंदर्यात्मक विवेचन के द्वारा समाज शास्त्रीय विश्लेषण नहीं करते तब तक हम उसके अन्तःस्वरूप का, उसकी क्षमताओं तथा सीमाओं का पूरा विवेचन तथा मूल्यमापन भी नहीं कर सकते।

जीवन तथ्य एक विचित्र शब्द है आजकल के कलाकारों की दृष्टि से। वस्तुतः, बाह्य जगत से संवेदनात्मक तथा ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया करके हमने विश्व का आभ्यन्तरीकरण किया है, और हम आत्म जगत के द्वारा बाह्य-जगत का स्वानुकूल करने का प्रयत्न किया है और इस बाह्य-जगत से हमने विविध प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये हैं। इन सब क्रियाओं से हमने अपने अन्तःकरण में भाव-पुंज बनाये हैं। इन भाव पुंजों में, जगत से हमारे सम्बन्ध, उसके प्रति हमारी भाव-दृष्टि तथा जीवन मूल्य—ये सब उन्हीं के रंग में डूबे हुए होने के कारण भले ही अलग-अलग दिखाई न दें, किन्तु वे जीवनानुभव के रूप में अपने विभिन्न पक्ष रखते ही हैं। अतएव वे जीवनानुभव, एक ही साथ, वस्तु-तथ्य भी है और एक संवेदनात्मक तथा भावात्मक पुंज भी।

दूसरे शब्दों में, जीवनानुभव के दो प्रधान पक्ष मूलभूत-पक्ष, नित्यशः एकीभूत स्थिति में विराजमान रहते हैं। वे हैं—बाह्य संदर्भ-सूत्र जो बाह्य जगत का, और उसमें आत्म सम्बन्धों को सूचित करते हैं। जीवनानुभव का दूसरा पक्ष है—बाह्य परिवेश के प्रति की गई संवेदनाओं की प्रक्रियाएँ, जो अन्तर में भाव पुंज उपस्थित करके उस पूरे जीवनानुभव को अत्यन्त आत्मीय बना देती हैं।

चूँकि यहाँ हम, प्रधानतः, जीवनानुभव के बाह्य सन्दर्भ-सूत्र को ध्यान में

लेकर बात करना चाहते हैं इसलिए हम जीवनानुभव को जीवन-तथ्य भी कहते हैं। ध्यान में रखने की बात यह है कि ये जीवन-तथ्य अनुभवात्मक रूप में हो हृदय में विद्यमान रहा करते हैं इसलिए उन्हें जीवनानुभव कह देने में भी कोई हर्ज नहीं।

यह ध्यान में रखने की बात है कि विश्व का आभ्यन्तरीकरण जो हमने किया है और बाहर हमने जो तरह-तरह के अपने सम्बन्ध स्थापित करके रखे हैं वे एक विशेष परिवार वर्ग समाज राष्ट्र और देश में हों। और यह सारा बाह्य इयत्ता आदिकाल से चली आती हुई मानव-सत्ता के विकास की एक विशेष अवस्था का द्योतन करती है। और इस विशेष अर्थ में मनुष्य के अन्ततत्त्व ऐतिहासिक सामाजिक शक्तियों द्वारा प्रस्त हैं क्योंकि वे शक्तियाँ अपनी पूरी गति और स्थिति में सामाजिक-सांस्कृतिक आध्यात्मिक परम्परा के रूप में नवीन आदर्श तथा मान मूल्यों के रूप में सदभिरुचि तथा संस्कार के रूप में तथा इसके अतिरिक्त सामाजिक राजनैतिक वातावरण बनकर आर्थिक सुस्थिति अथवा दुःस्थिति को धारण करने वाली परिस्थिति के रूप में—और न मालूम कितने ही अकल्पनीय रूप लेकर मानव अन्तःकरण में कार्य करती है और मनुष्य स्वयं उनसे क्रिया प्रतिक्रिया करता हुआ बाह्य विश्व को स्वानुकूल बनाने का प्रयत्न करता हुआ और स्वयं को विश्व के अनुकूल बनाने की कोशिश करता हुआ और इस पूरी प्रक्रिया में दोनों की काट छाँट करता हुआ वह अपनी जीवन यात्रा करता रहता है। संक्षेप में मनुष्य की वास्तविक जीवन यात्रा और जीवन यापन पद्धति तथा इन दोनों के मूल में अपनी आकांक्षाएँ तृप्त करते रहने की उसकी प्रवृत्ति—ये तीनों मिलकर उसके हृदय के तत्त्वों का—उसके अन्तःकरण के तत्त्वों का रूपायन करती हैं। अतएव अन्तःकरण में संचित इन तत्त्वों का ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय विश्लेषण न केवल सम्भव है वरन् वह आवश्यक भी है।

यह आवश्यक उसे प्रतीत होगा जिसे समग्र मानव सत्ता में अनुराग हो। इतरों को निःसन्देह यह शुद्ध स्थूल-बुद्धि समीक्षकों का कलाकारों सौन्दर्यवादियों तथा अध्यात्मवादियों के विरुद्ध षड्यन्त्र जैसा प्रतीत होगा।

किन्तु व्यक्ति चेतना कितनी सीमित है क्या हम यह नहीं मालूम? न हम पूरा आत्म-साक्षात्कार ही कर सकते हैं न पूरा अपना चरित्र साक्षात्कार। कभी-कभी हम उसकी झलक भर दिखाई देती है।

इसीलिए हमें इतरों की आवश्यकता होती है। कवि कलाकार उपन्यासकार चित्रकार से लेकर तो विज्ञान के महर्षियों की। तभी हम पूरी मानव सत्ता को और उसके आकार में अपने अपने जीवन को अपनी आत्म सत्ता को देख सकते हैं।

लेखक की भाव-दृष्टि में सम्मिलित जीवनानुभव, जो उसकी अनुभूति के माध्यम से कला के तत्व बन जाते हैं अपनी प्रारम्भिक मूल अवस्था में जीवन तथ्य होने के कारण समाज शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक विशेषताओं से युक्त होते हैं। समाज विकास की ऐतिहासिक शक्तियों के द्वारा लेखक के हृदय के भीतर अभिव्यक्त होते हैं। लेखक जीवन-तथ्यों का भी स्रष्टा नहीं होता, उनका नियामक तथा प्रवर्तक नहीं होता, उनका केवल अनुभविता, भोक्ता और अभिव्यंजक होता है यद्यपि लेखक के हृदय में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये जीवन तथ्य अनुभूति बनकर अपने प्रकटीकरण के लिए अकुलाते रहते हैं। और इस प्रकार निगूढ़ मार्मिक अनुभव के क्षणों में लेखक उन्हें अपने भाव, अपने अनुभव, अपनी कल्पना आदि कहकर पुकारता है फिर भी ये जीवन-तथ्य लेखक द्वारा उत्पादित नहीं होते। लेखक उन जीवन-तथ्यों का अनुभव, चित्रण, मूल्यांकन करता है। जीवन-तथ्यों को अपने हृदय में अनुभव करते हुए लेखक उन्हें निजी बना लेता है। तदनन्तर उसकी विधायक शक्ति सृजनशील कल्पना के द्वारा उन्हें कलात्मक रूप में उपस्थित करती है। इन्हीं सीमित अर्थों में लेखक अपनी कला का विधाता है। वस्तुतः वे जीवन-तथ्य लेखक के हृदय के भीतर उपस्थित होते हुए भी अपने अस्तित्व के लिए, मात्र उसकी सत्ता पर ही अवलम्बित नहीं रहते। वे सामाजिक अनुभवों के रूप में सबके हृदयों में विराजमान रहते हैं। उन जीवन-तथ्यों से जुड़ने वाला मूल्यांकनकारी विवेचनकारी मार्मिक दृष्टिकोण भी लेखक के विकास का ही एक बिन्दु है। यह विकास मात्र व्यक्तिगत न होकर समाज विकास के ऐतिहासिक सत्यों द्वारा प्रवर्तित होता है जिनके एक अंग रूप में वह लेखक स्वयं रहता है। सारांश यह है कि वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर हमारे सामने यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य उपस्थित होता है कि साहित्य की समाज शास्त्रीय ऐतिहासिक व्याख्या वस्तुतः उतनी बाहरी नहीं है जितनी कि समझी जाती है। वह बाहरी और भीतरी—दोनों से युक्त और दोनों के परे है। कला के भीतर रूप से पृथक (हम मात्र विश्लेषण की सुविधा के लिए यह पृथकता मान रहे हैं रूप और तथ्य कभी एक दूसरे से पृथक नहीं रह सकते) तत्त्व की आलोचना समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक भी हो सकती है। भले ही हम समाज शास्त्र और ऐतिहासिक विकास शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग न करें (न यह हमेशा जरूरी होता है)। किन्तु हमारी आलोचना की वास्तविकता पर आधारित होने के लिए समाज रचना के ऐतिहासिक विकास के स्तर, आलोच्य वस्तु के समय प्रचलित भाव परम्परा, लेखक के वर्ग परिवार तथा व्यक्तिगत विकासावस्था, तत्कालीन सांस्कृतिक विकास आदि आदि बातों के अध्ययन के साथ ही लेखक की उस समस्त स्थिति परिस्थिति से की गई प्रतिक्रिया का अध्ययन भी नितान्त आवश्यक है और इस अध्ययन के अंतिम गर्भितार्थ समाज

कलात्मक अनुभव

बाल्यकाल से ही हमारा मनोमय जीवन आरम्भ हो जाता है। कल्पना कीजिए ऐसे बालक की जो आसपास के जगत की संवेदनाएँ ग्रहण कर, फिर उस जगत के चित्रों को अपने मन में घुमाता फिराता हो। अपनी माँ से मिलने आने वालियों के वह चेहरे देखता रहता है। उनके वस्त्र, उनके मुख की आभा रेखाएँ उनके व्यवहार की विशेषताएँ देख देखकर वह बालक उनके सम्बन्ध में उनके जीवन के सम्बन्ध में तरह-तरह की कल्पनाएँ करके आत्मलीन होता रहता है। ये कल्पना चित्र कभी उसे रुला दें या उदास कर दें या कभी हँसा दें, अथवा एक अपरिसीम कुतूहल उद्दीप्त कर दें। मुख्य बात यह है कि संवेदनाएँ, भावनाएँ, बोध शक्ति, परस्पर सहकार करके उस निराले जगत में ले जाती हैं। वह निराला जगत कल्पना का लोक है, फिर भी वह वास्तविक जगत की प्रतिछाया ही से बना हुआ है। उस जगत में वास्तविकता के स्वप्न के रंग हैं। बालक मन उसमें डूब जाता है।

कभी पन्नामा के यहाँ कोई दुर्घटना हो जाती है। बालक उस दुर्घटना के मनोमय चित्र बनाता रहता है। उसे पता चलता है कि वहाँ एक नन्हा मर गया। मरने के पहले (माँ ने बताया था) जोर की साँस लगी थी। भयानक साँस!! बालक उस साँस की कल्पना करता है!! उस नन्हे को कौन सी यन्त्रणाएँ होती होंगी। कौन सी तकलीफ होती होगी!! उसकी माँ का जी किस तरह रोता होगा!! उसके जी पर क्या बीतती होगी!! बालक का हृदय इन काल्पनिक चित्रों में भीगता रहता है।

और न जाने किस नियम से, बालक का हृदय और कहाँ बह जाता है। अच्छा तो वो अपने को बहुत बड़ा समझते हैं!! माँ को और पिता को यह अच्छा नहीं लगता फिर भी वे उनकी आवभगत करते हैं। बड़ी मेहमानदारी होती है। हमें भले ही चाय का एक कप भी न मिले लेकिन उनकी सेवा जरूर होगी। उनके बड़े-पन से माँ बाबूजी, दबे-दबे रहते हैं!! आखिर, इसकी जरूरत क्या है!! सिर्फ इसलिए कि वो कहीं तहसीलदार हैं!!

मां कहती है उनसे मत मिला!! क्यों न मिलूँ!! वह कहती है बच्चू चपरासी का लड़का है। ऐसे लड़के बुरे होते हैं। गरीबों के लड़कों को तमीज नहीं होती। उन्हें बुरी बुरी आदतें होती हैं वे गुण्डे होते हैं। वे पैसे से भजिये खाते हैं। लेकिन मन कुछ कहता गरीबों के ये जो लड़के हैं, वे सामने वाले से ज़्यादा कहाँ बुरे हैं!! क्या हंसी, क्या किलकारी, कैसी बढ़िया शरारत, कैसी घनी उदासी और प्यारी नज़र!! गरीबों के लड़के भी तो अच्छे ही होते हैं। पता नहीं क्यों मां घर में सहेलियों से तो दिल की बात करती है लेकिन मुझे बच्चू से मिलने नहीं देती। यह बुरी बात है। आज़ादी कितनी अच्छी होती है। जब मैं बड़ा हूँगा पूरा आज़ाद हो जाऊँगा!! कब, कब, वो दिन कब आयेगा!! आखिर क्या हुआ अगर मन कुचले रहें तो!! बच्चू से तो खेल सकेगा नाथू के घर जाकर बात तो कर सकेंगे!! नाथू की माँ बड़ी अच्छी है मुझे गुलगुल देती है। लेकिन घर से निकलने का मिले तब न!!

पिताजी कहते हैं कि कृष्णराव नौकरी से निकाल दिये गये!! इसीलिए तो लच्छू का चेहरा कितना उतरा हुआ था अब उनके घर में कैसा सूनी सूनी पीला पीला गहरा-गहरा उदासी होगा। सबकी आँखें ढीली हो गई होंगी सबके मुँह झुक गये होंगे सबके बाल बिखर बिखरे होंगे। लोग कैसे थके थके से चलते होंगे उनके गले में उदासी का काँटा कसकता होगा। लच्छू मारा मारा फिरता होगा।

वे लोग बड़े अच्छे हैं हमारे घर से आज उनके घर दो सेर आटा गया आलू और शक्कर भी चाय का एक पुड़ा भी। आखिर ऐसा क्या हुआ? कृष्णराव का चेहरा कितना अच्छा है!! बाल कटे हुए हैं जिनमें से दुनिया का सारा भलापन हँस रहा है। यह भलापन है कि जिसमें अंगारों की मीठा गरमी वाला सिगरेट है!! लम्बा गोरा गोल चेहरा लम्बी नाक और आँखें कैसी अच्छी हैं कैसी कोमल मुलायम रोशनी फेंकती हैं!! हाय रे! दुनिया इतनी बुरी क्यों है!! इतने अच्छे आदमी को अच्छा रहने क्यों नहीं देती!! हमारी बूढ़ी फूफी कृष्णा काका को बेवकूफ समझती है। पिताजी सभी उन्हें मूर्ख समझते हैं। लेकिन मेरा मन ऐसा नहीं समझता। मां और मैं पान खाते हैं और मां तो पान बनाती है। मां उनके लिए पान बनाती है। मुझे चाय लगा देती। यही तो बुरी बात है।

कृष्णा काका बहुत अच्छे हैं मुझे प्यार करते हैं। पास बिठा लेते हैं चाय का एक घूंट मुझे भी देते हैं। मैं उनके यहां जाऊँगा उन्हीं के यहां रहूँगा। लच्छू उनका है आज उन्हीं के साथ सोऊँगा। कृष्णा काका का चेहरा देखता रहूँगा उनके पैर दाबूँगा। हमारा काका इतना नेक है। वह मुझे बड़े आदमी का लड़का कहता है मुझे दूर-दूर रखती है उनके घर की मिट्टी से कहीं मेरा कपड़ा गन्दा न हो जाय। उनका लच्छू भी मुझे दूर-दूर रखता है। लच्छू के यहां

कटा फटा टाट है, हमारे यहाँ आराम कुर्सियाँ हैं। लच्छू के यहाँ कभी न जाती हुई गहरी उदासी है, हमारे यहाँ चहल पहल!! लेकिन, जब अपने घर कृष्णा काका मुझे गोद में ले लेते हैं तो लच्छू खड़ा खड़ा ताकता रहता है। उसकी माँ मुझे दूर दूर भले ही रखे जी होने पर वह मुझे शक्कर फाँकने को भी देती है। लेकिन, लच्छू!! न जाने उसके दिल में क्या है!! मेरा क्या गुनाह कि मैं बड़े आदमी का लड़का हूँ। मैंने कौन सा पाप किया!! कहो तो यह निक्कर यह साफ शर्ट उतारकर फेंक दूँ!! लेकिन क्या करूँ, माँ बहुत डाँटती है। तो क्या हुआ!! लच्छू भले ही अकड़े, मैं जान-बूझकर उसे हँसाऊँगा उससे खेलूँगा, उसकी उदासी तोड़ दूँगा। लच्छू आखिर कृष्णा काका का लड़का है। आज लच्छू उदास है बहुत उदास!! आज मैं उससे जरूर खेलूँगा। उसके आगे नाचूँगा!! अगर वह जी भर भी मुसकरा उठे, मजा आ जायगा। कृष्णा काका खूब खुश होंगे। लेकिन ऐसा क्या होता है!! कृष्णा काका की नौकरी क्या छूट जाती है!! वे तो बड़े शान्त स्वभाव के हैं!!

वे प्राइवेट नौकरी क्यों करते हैं!! नाना कह रहे थे सरकार उन्हें नौकर नहीं रखती। कहते हैं बरसों पहले, जब मेरा जन्म भी नहीं हुआ था उनके घर से बम मिले थे, बन्दूकें भी तमंचे भी। तबसे उनका भाग्य फिरा। सजा काट कर आये। क्या होता है सजा। बड़ी बड़ी दीवारें, काल कोठरी। हाथ पाँव में जंजीरें!! चक्की पीसना पड़ती है चक्की।

घर उजड़ गया। अब मुनीमी करते हैं। कोई उन्हें पूछता नहीं। घर वाले, हमारे नाना, पिताजी सब—सब उन्हें बेवकूफ कहते हैं। कहते हैं उन्होंने, बाद में, एक अखबार भी निकाला और चौपट हो गये। अब तो सरकारी नौकरी मिल ही नहीं सकती। लोग उन्हें भी बेवकूफ कहते हैं।

लेकिन, कृष्णाराव कैसे हैं!! वे बेवकूफी करते रहते हैं। आखिर उन्होंने यह क्यों नहीं सोचा कि सबसे पहले बेवकूफी की छानबीन की जाय और अपना नतीजा कागज में लिखकर उस कागज को सबके चेहरे पर दे मारें!! कृष्णाराव कृष्ण नहीं, शंकर महाराज हैं। महेश हैं जिनके हाथ में किसी जमाने में बम था। वह बम मुझे अभी भी दीख रहा है। कोई भी रखने को तैयार नहीं इसलिए कि वे बेवकूफ हैं। मुझे भी लोग बेवकूफ कहते हैं। मैं अटकता हूँ सवाल का जवाब मन नहीं बनता। इसीलिए मेरी पिटाई होती है। कई बार तो चाँदनी की मुँडेर पर बैठा कि नीचे कूदकर कूच कर जाऊँ। लेकिन, तभी खयाल आता है कि मैं सड़क पर मरा पड़ा हूँ, मेरे सिर के पास धाड़ मारकर माँ रो रही है। पिताजी घर उठा रहे हैं। नहीं नहीं मैं अपने माँ बाप को दुःख नहीं दूँगा। मरूँगा नहीं जिन्दा रहूँगा। बेवकूफी नहीं करूँगा नहीं मैं।

लेकिन मैं भी कितना टुच्चा हूँ। उनसे एक दिन रास्ते में इतना गोग

बैठा ।। उन्होंने बराबर एक इक्का निकालकर दे दी । पिताजी बड़े नाराज हुए । उसमें इक्का क्या थी ।। कृष्णाराव के लिए उनके मन में क्या भाव है। मुझे यह पसन्द नहीं । कृष्णा काका एक इक्की ना क्या मुझे गर्व बुद्ध के सिवाय मार के ।

लेकिन टुच्चा तो मैं हूँ ही । नाना ने कल रामायण सुनाई। उनकी नाना चादर मुझे पसन्द है और उसके भीतर दुबका बैठा उनका सारा अंग। कहानी कहते वक्त मुझमें ज्यादा हँसते हैं । उन्होंने कहा कि जीव हत्या पाप है । कहानी राज गुरु खटमल मारते हैं मारा बैठते हैं । जो हो जीव हत्या पाप जरूर है। लेकिन मच्छर खटमल कितनी तकलीफ होती होगी जीव को । कल बारिश हुई । गली पानी में भर गई । पानी में लगातार छींटे पड़ते जा रहे थे । बड़ा मजा आ रहा था । एक जीव फँस गया । शायद झींगुर था । मैंने पानी में से उसे निकालना चाहा । लेकिन मेरी कोशिशें बेकार हुई । वह दूर था । मैं डण्डे से उसे पास खींच रहा था । वह तड़प रहा था । भयानक थी उसकी छटपटाहट । पता नहीं मुझ पर क्या भूत सवार हुआ । उसकी तड़पन से मेरे दिल में कुछ ऐसी तड़पन हुई कि मैंने निशाना लगाकर उसे डण्डा दे मारा । वह खत्म हो गया । मेरे हाथ से पाप हुआ । वह छूट गया मुझे छोड़ गया सिर्फ तड़पन के लिए अपने दुःख में पराए दुःख में । बार-बार सपना आया है उस तड़पते झींगुर का जो पानी में औंधा पड़ा था और हाथ पर मार रहा था ।

मैं भी झींगुर हूँ जो इस पानी में औंधा पड़ा हूँ—एक अजीब गन्दे पानी में । रास्ते चलते दुःख दे जाता हूँ और फिर बुरा लगता है मन खुद को काटने दौड़ता है । अपने पर काबू नहीं कर पाता । यही कारण है गणित में मन लगाने की कोशिश करता हूँ लेकिन जमकर काम नहीं कर पाता । मन भागता है भागता रहता है । इसीलिए तो मुझे माँ कभी पिताजी बेवकूफ कहते हैं । सिर्फ नाना वैसा नहीं कहते ।। बेवकूफ तो हूँ ही लेकिन इसके लिए लाचार हूँ ।

कल्पना कीजिए कि इसी तरह की बात सोचते सोचते बालक की आँख लग जाती है । मन थक जाने से वह सो जाता है ।

यह उसका मनोमय जीवन है । किन्तु इस मनोमय जीवन में बाह्य की सामग्री है बाह्य के तत्त्व हैं ।। तो क्या अन्तर के तत्त्व है ही नहीं ? अवश्य हैं ।। लेकिन वस्तुतः वे उसकी आभ्यन्तर शक्तियाँ हैं—संवेदना बोध शक्ति कल्पना और इच्छाएँ ये उसकी अन्तर की चेतना के अंगभूत हैं । इन सभी शक्तियों या प्रवृत्तियों का बाह्य से जब सम्मिलन होता है तब वह प्रक्रिया शुरू होती है जिसमें बाह्य का आभ्यन्तरीकरण कहता हूँ ।। वह शुरू से ही जीवन जगत का आभ्यन्तरीकरण करता आया है । इस आभ्यन्तरीकरण के दौरान में ही वह

बाह्य संशिक्षा तथा संस्कार भी प्राप्त करता है साथ ही वह अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, जीवन जगत से प्राप्त मानवीय मूल्यों द्वारा उसी जीवन जगत की आलोचना भी करता है। आत्मालोचन भी करता है। यदि उसके संस्कार बुरे हैं तो निश्चय ही उसकी मूल्य-दृष्टि भी विकृत होगी।

बालक, स्वभावतः संवेदनशील होता है उसमें कल्पनाशीलता भी तीव्र होती है उसका जीवन निरीक्षण भी उसकी अपनी सीमा में तीव्र होता है।

मुख्य बात यह है कि वह अपनी संवेदनाओं के आग्रहों में अपने अनुभवों के आधार पर कल्पना द्वारा, जीवन की पुनर्रचना करता है, अपने अनुसार। कल्पना के रंगों में डूबी इस जीवन-पुनर्रचना के रंग निस्सन्देह भावुक हैं। इन चित्रों के रंग में डूबकर वह उन्हीं चित्रों से प्राप्त संवेदनाओं में भावुक होकर रम जाता है। अपने मनोमय जीवन के इन क्षणों में, जब वह उन चित्रों में तन्मय होकर, उनमें प्रस्तुत हुए जीवन की संवेदनाएं और अनुभूतियाँ ग्रहण करने लगता है उस समय वास्तविक बाह्य से क्रिया प्रतिक्रिया करने में व्यस्त और ग्रस्त रहने वाले मन को—जो वैयक्तिक सुख-दुःख से मण्डित रहता है—बहुत पीछे छोड़ देता है उसके ऊपर उठ जाता है, उसके परे हो जाता है। संक्षेप में, एक ओर उसकी मुक्ति हो जाती है तो दूसरी ओर उसी के साथ एकबद्धता आ जाती है। तटस्थता और तन्मयता दूरी और सामीप्य का द्वन्द्व उच्चतर स्तर पर एकीभूत हो जाता है। संवेदना के आग्रह—अर्थात् संवेदनात्मक उद्देश्य जिसमें इच्छित विश्राम के तत्त्व भी मिले रहते हैं—उनके क्रम में उनके जोर से वास्तविक अनुभवों के आधार पर, उसकी विधायक कल्पना उन्हीं अनुभव तत्त्वों को मिलाकर जीवन की एक पुनर्रचना कर बैठती है। संवेदनात्मक उद्देश्य अपनी पूर्ति के लिए एक विशेष दशा में, उन कल्पना चित्रों को वेशायित कर देते हैं। उस कल्पना चित्रों में डूबकर उसी जीवन का प्रगाढ़ अनुभव होता है—कि जो जीवन अपना सार-भार प्रतीत होता है।

बाह्य जीवन-जगत् के रूप स्वरूप और गति प्रगति के जो अपने नियम हैं वे इस पुनर्रचित जीवन के नहीं। पुनर्रचित जीवन किसी संवेदना की पूर्ति के लिए ही होता है। उसकी चित्र माला उन्हीं संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में दौड़ती है। दूसरे शब्दों में पुनर्रचित जीवन-लोक की अपनी आन्तरगामी है उसका अपना एक स्वायत्त-तन्त्र है। किन्तु उसका यह आन्तरगामी एवं स्वायत्त-तन्त्र सापेक्ष्य है क्योंकि वह वास्तविक जीवनानुभवों के ठोस आधार पर खड़ा हुआ है। और उसके बिना यह असम्भव है। इस मूलाधार के बीच में से ही संवेदनात्मक उद्देश्यों को और कल्पना को वे तत्त्व मिलते हैं कि जिन तत्त्वों के विभिन्न पटनम् इस प्रकार रचना या बनाना कि जिनमें उन संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति हो विधायक कल्पना का मूल कार्य है।

विधायक कल्पना द्वारा पुनरचित जीवन एक विशिष्ट अनुभव वाला एक खास रूजवे की तसवीर नहीं वरन तत्समान सारे अनुभवों का यह वस्तुतः एक सामान्यीकरण है। इसीलिए, उन मानस प्रत्ययों में विशेष प्रातिनिधिकता आ जाती है। व्यवस्थित रूप से शब्द-बद्ध होने पर ये ही चित्र अपनी इस प्रातिनिधिकता के फलस्वरूप पाठक या श्रोता के अन्तःकरण में तत्समान मनश्चित्रों द्वारा तत्समान चित्रों को जागृत कर देते हैं। अनुभूति क्षण की विशिष्टता के रूप में विशिष्ट है और अपनी प्रातिनिधिकता के कारण वे सामान्य भी। इस प्रकार वे विशिष्ट और सामान्य के द्वन्द्व की उन्नततर एकीभूत स्थिति के रूप में भी कल्पना द्वारा जीवन की पुनरचना होती है। इस पुनरचना में से ही जीवन का प्रगाढ़ अनुभव होता है। ध्यान में रखने की बात केवल इतना है कि इस पुनरचना का अपना एक स्वायत्त-तन्त्र होने के बावजूद उसके मूलतत्त्व वास्तविक जीवन के अनुभूत तथ्यों में से ही अर्थात् हृदय में संचित जीवन अनुभवों में से इस प्रकार उद्गत होते हैं मानो वे अपने जिये जाने वाले जीवन की सारभूत विशेषताएँ हैं। जीवन की पुनरचना में वास्तविक अनुभव बाह्य तथ्यात्मक जीवन की सारभूत विशेषताएँ प्रतीत होने के कारण ही उन पुनरचित जीवन चित्रों में हम जीवन ही का जगत् ही पाते तथा अपना खुद का प्रगाढ़तम अनुभव होता है।

इस प्रकार का मनोमय जीवन और उसका अनुभव वस्तुतः कलात्मक है। उसी से हम उस आह्लाद की प्राप्ति होती है जिसमें एक ओर ज्ञान का प्रकाश है तो दूसरी ओर जीवन का आनन्द।।

इस प्रकार के अनुभव बालकों से लेकर वृद्धों तक होते हैं कवियों से लेकर अकवियों तक होते हैं मजदूर से लेकर सम्पन्न तक होते हैं। लेखकों से लेकर श्रोताओं तक होते हैं। इन्हीं अनुभवों को हम कलात्मक अनुभव या सौन्दर्यानुभव कहते हैं। केवल मनुष्य ही सौन्दर्यानुभव प्राप्त कर सकते हैं पशु नहीं।

सारा मनोमय जीवन कलात्मक नहीं होता। जिन क्षणों में मन निज बद्ध स्थिति में रहता है वह कल्पना द्वारा पुनरचित जीवन में तन्मय और तदाकार होकर अपनी निज बद्धता नहीं खो सकता अर्थात् जब वह मुक्ति और बद्धता तटस्थता और तन्मयता सामीप्य और दूरी विशिष्टता और सामान्यता के मूल द्वन्द्वों को उच्चतर स्तर पर एकीभूत स्थिति में नहीं पहुँच सकता तब उसी हालत में उसका मनोमय जीवन कलात्मक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के अकलात्मक मनोमय जीवन में मन को उसके व्यक्तिगत सुख दुःख और राग द्वेष ही घेर रहते हैं। फलतः मन को अपने से मुक्ति नहीं छुटकारा नहीं। दूसरे शब्दों में मनोमय जीवन के कलात्मक क्षणों में अपने आपसे छुटकारा पाकर प्रगाढ़ और व्यापक अनुभव होता है।

किन्तु उसी मनोमय जीवन के कुछ क्षण ऐसे भी होते हैं जब मन एक ओर

अपने से तो परे हो जाता है, अपने से तो ऊपर उठकर सोचता है, किन्तु दूसरी ओर संवेदनात्मक उद्देश्यों की प्रबलता इतनी नहीं होती कि कल्पना उद्दीप्त होकर जीवन का पुनर्विधान करे। मनुष्य एक ओर अपने विशिष्ट सुख-दुःख का भोक्ता है तो दूसरी ओर वह उनका द्रष्टा भी है। अपने से परे जाने, दूसरों से अपने को मिलाने, ज्ञान तथा बोध द्वारा विशिष्टों का सामान्यीकरण करने और सार सार पहचानने और ग्रहण करने की उसमें अद्भुत शक्ति है। कलात्मक अनुभव की घटना के पूर्व और निजबद्धता की स्थिति में उबरने के क्षण के पश्चात् जो एक बीच की हालत पैदा होती है उस हालत में संवेदनात्मक उद्देश्यों की सापेक्षिक मंदता के कारण, विधायक कल्पना के विचरण और प्रस्फुरण के अभाव में अर्थात् मात्र तटस्थता मात्र द्रष्टा स्थिति के रूप में रहते हुए हमारे मन में जो धाराएँ बहती रहती हैं उन्हें हम एक प्रकार का मनन भी कह सकते हैं। मनोमय जीवन में ऐसा जीवन मनन चलता रहता है।

इसी स्तर के जीवन मनन या जीवन चिन्तन में ही, हमारी बोध शक्ति और ज्ञान शक्ति प्रबल होती है। भीतर ही भीतर सोच विचार जारी रहता है। हृदय के भीतर समाए अनुभव, बोध और ज्ञान की सक्रियता के फलस्वरूप अधिकाधिक प्राजल और अधिकाधिक उज्ज्वल होते जाते हैं। ये उज्ज्वलतर और प्राजलतर अनुभव हृदय में संचित होते रहते हैं। दूसरी ओर बाह्य का अनवरत आभ्यन्तरीकरण होते रहने से, नव प्राप्त तत्त्वों का नये अनुभवों का सार्जन और उनका संचयन भी आवश्यक हो है। यह भी अपने आप ही होता जाता है। मनोमय जीवन के इस रूप को इस स्तर को हम कलात्मक चेतना का सिंहद्वार कहेंगे। ऐसा क्यों यह आगे चलकर स्पष्ट होगा। ध्यान में रखने की बात है कि इस रूप या इस स्तर पर प्राजलीकृत अनुभवों का दारिद्र्य जिस कलाकार में होगा, उस कलाकार इस स्तर के महत्त्व को ही न समझना होगा अथवा जिसके अनुभव बोध और ज्ञान द्वारा प्राजल न बनेंगे वह एक ओर अनुभवों की अपरिमार्जित विकृत स्थिति प्राप्त करेगा तो दूसरी ओर अनुभवों के दारिद्र्य का भी वह अधिकारी होगा।

यह तो सही है कि बोध और ज्ञान शक्ति द्वारा ही ये अनुभव परिमार्जित होते हैं यानी पूर्व प्राप्त ज्ञान द्वारा मूल्यांकित और विश्लेषित होकर प्राजल होकर, अन्तःकरण में व्याख्यात होकर व्यवस्थाबद्ध होते जाते हैं। किन्तु स्वयं अनुभवों में भी संवेदन की चिनगारी हुआ करती है। फलतः बोध और ज्ञान का कार्य भी, संवेदन से विरहित नहीं है किन्तु उनके योग में इस भले ही उस समय संवेदन अधिक तीव्र दशा में न हो।

मनोमय जगत में यही वह स्तर है जिसे हम अपनी मूल व्यक्ति ग्रस्त प्रवृत्तियों के परिमार्जन की आरम्भिक स्थिति भी कह सकते हैं। अपने परे जाने, अपने में

ऊपर उठने दूसरों से अपने को मिलाने विशिष्ट से सामान्य पर पहुंचने की यह जो नानात्मक संवेदना की दशा है नानात्मक अनुभवों की दशा है वह सबमें होती है। वह मनुष्य की मूल उन्नतता का लक्षण है। किन्तु किसी में वह थोड़ी और बहुत थोड़ी होता है किसी में बहुत और बहुत अधिक।

यही वह स्तर है जहाँ हम किन्हीं आदर्शों ध्येयों वांछनीय गुणों अभिलषणीय तथ्यों में एकात्म होने का उन्हें अपने में मिलाने का उनकी सहायता से अपना परिमार्जन करने का अपने को एक दिशा देने का प्रयत्न करते हैं। और इस प्रकार व्यापकतर और उन्नततर जीवन प्रणाली या जीवन विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। संक्षेप में यह वह स्थान है जहाँ ज्ञानार्जन करते व्यापकतर अनुभव अर्जन करते अपने आपको अनुभव संवेदित होने देने की इच्छा से संचालित होते हैं। यहीं अपने बहिरन्तर जीवन को व्याप्त और क्षेत्र को और भी विस्तृत करने की इच्छा हो जाती है। यही वह स्तर है जहाँ हमारी शिक्षा दीक्षा संस्कार आदि दृष्टिकोण तथा मूल्य भावना का कार्य होता है। केवल सुविधा के लिए मैं इसे मनोमय जीवन का दूसरा स्तर कहूंगा। पहला स्तर निजबद्धता का स्तर है। इस दूसरे स्तर पर विकासशील मनुष्य की वास्तविक आत्मचेतना सक्रिय रहती है। यह सक्रिय आत्मचेतना हमारे अनुभवों को अधिकाधिक व्याख्यात और व्यवस्था-बद्ध करके उज्ज्वल और प्रांजल करती हुई अपने आपको परिपूर्ण करती रहती है। प्रांजल और उज्ज्वल हुए ये अनुभव हमारे हृदय में संचित होते जाते हैं। उनके स्तर पर स्तर बनते और बढ़ते जाते हैं। नानात्मक वृत्तियों के कारण वे अनुभव विशृंखल राशि रूप में नहीं वरन् व्यवस्था रूप में हृदय में स्थित होते हैं।

ध्यान में रखने की बात है कि वास्तविक सौन्दर्यानुभवों के अर्थात् कलात्मक अनुभवों के क्षणों में प्रधान मनोमय जीवन के तीसरे स्तर पर जब सवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित कल्पना जीवन विधान करती है तब उस जीवन विधान के अनुभव-तत्त्व (जो दूसरे स्तर में संचित हुए) ऐसी संचित अनुभव-व्यवस्था में प्रस्फुटित होकर उस नागर अर्थात् कलात्मक क्षण को उपलब्ध होते हैं। संक्षेप में विधायक कल्पना संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा विचलित किये गये जिन अनुभवों के तत्त्वों को उठाती है वे अनुभव दूसरे स्तर में समाहित रहते हैं। मनोमय जीवन के इस दूसरे स्तर पर पाये जाने वाले अनुभव यदि अस्पष्ट हैं अथवा उनमें अभिव्यक्ति होने से रोक दिया गया है तो वैसी स्थिति में दूसरे स्तर के माध्यम से कलात्मक क्षणों के कारण संसार की कला भी निश्चय ही अपरिपक्व होगी। साथ ही उसका अभिव्यक्ति पक्ष भी सीमित अस्पष्ट और अव्यवस्थित होता है। इस स्तर के विकास की पुष्टता पर उसकी कला की पुष्टता निर्भर है।

इसी बात को ध्यान में रखते मुझे यह प्रतीत होता है कि अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने अपने को दूसरों से मिलाने और उसमें डूब जाने का यह काय अधिक तावधानी से ज्यादा गहराई से और अधिक बार होना चाहिए। कलाकार की जागरूकता का अर्थ ही यह है। अपने से परे जाना, अपने से ऊपर उठना, कोरी भावुकता नहीं है, वरन् इसके विपरीत वस्तु-दर्शन या तत्व-दर्शन का एक अनिवार्य अंग है। ज्ञान का जो मनोवैज्ञानिक गुण है, वही इसका गुण भी है। ज्ञान के बिना, कि जिस जीवन में वह अपने से परे आकर अपने से ऊपर उठकर हृदय का विस्तार करता रहता है, वे सर्वोच्च कलात्मक क्षण सौन्दर्यानुभूतियों के वे क्षण जहाँ विधायक कल्पना द्वारा जीवन पुनर्रचित हो जाता है, वस्तुतः सम्भव ही नहीं है। यदि हम कलात्मक क्षण को तीसरा स्तर मानें तो अपने से परे जाकर हृदय का विस्तार करने वाले इस साधारण स्तर को हम दूसरा स्तर ही कहेंगे।

यह कहना गलत है कि दूसरे स्तर के या उस तीसरे स्तर के मनोमय जीवन का अनुभव, कलाकार के अतिरिक्त किसी अन्य को होता नहीं। नहीं। यह सबको अपने से परे जाना, अपने से ऊपर उठकर जीवन जगत में भोगना, उसमें रमना, और इस प्रकार उदात्त प्रेरणाएँ ग्रहण करना वस्तुतः एक गहन मानवीय प्रक्रिया है। यदि यह प्रक्रिया अपूर्ण है अधूरी है अत्यन्त सीमित है तो वैसी स्थिति में उस लेखक की कला भी छिछली और सतही रहेगी। किन्तु जो लेखक मनीषी है मानव-जीवन में जिसकी दिलचस्पी गहरी है, वह कुछेक भावनाओं की या मन स्थितियों की सुन्दर आकृतियाँ उपस्थित करके सन्तोष नहीं पाएगा। वह अपने सम्पूर्ण अनुभव जीवन को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करेगा, भले ही उसकी वह अभिव्यक्ति कलावादियों की दृष्टि से असुन्दर ही क्यों न हो। निःसन्देह कबीर की बहुत सी वाणियों में ऊबड़खाबड़पन है फिर भी वे सुन्दर होती हैं। क्यों है इसलिए कि सौन्दर्यात्मक प्रभाव रखने के भाव, संवेदन और कल्पना रेखाओं से गुम्फित होकर बाहरी अभिव्यक्ति रूपों की असंगति तक चला चलता है। यही कारण है कि हम लोग नज़ीर की शायरी का आनन्द उठा लेते हैं भले ही उसमें स्थान-स्थान पर बाह्य रूपात्मक तोड़ मरोड़ हो। सुन्दर आकृति का वर्णना करने वाले लोग, वस्तुतः कलात्मक अभिव्यक्ति को किन्हीं विषयों तक सीमित रखना चाहते हैं। यही नहीं वरन उन्हें किन्हीं अभिव्यक्ति पद्धतियों में ही सौन्दर्य दिखाई देता है।

यह आवश्यक नहीं है कि सौन्दय अनुभूति का क्षण कलात्मक अनुभव का क्षण उस अनुभूति या अनुभव कलात्मक अभिव्यक्ति का भी क्षण हो। उसी तरह, यह भी जरूरी नहीं है कि कलात्मक अभिव्यक्ति के काय के दौरान में, सौन्दय अनुभूति का एकछत्र साम्राज्य हो। कवि में न केवल प्रतिभा का

उपर उठने, दूसरो से अपने को मिलाने विशिष्ट से सामान्य पर पहुंचने की यह जो नानात्मक संवेदना की दशा है नानात्मक अनुभवों की दशा है वह सबमे होती है। वह मनुष्य की मूल उन्नतता का लक्षण है। किन्तु किसी में वह थोड़ी और बहुत थोड़ी होता है किसी मे बहुत और बहुत अधिक।

यही वह स्तर है जहाँ हम किन्हीं आदर्शो, ध्येयो वाछनीय गुणो अभिन्न पणीय लक्ष्यो मे एकात्म होने का उन्हे अपने मे मिलाने का उनकी सहायता से अपने परिमार्जन करने का अपने को एक दिशा देने का प्रयत्न करते है। और इस प्रकार व्यापकतर और उदात्ततर जीवन प्रणाली या जीवन विकसित करने का प्रयत्न करते है। संक्षेप मे यह वह स्थान है जहाँ ज्ञानार्जन करने व्यापकतर अनुभव अर्जन करने अपने आपको अनुभव दारिद्रय मे न रहने देने की इच्छा से संचलित होते है। यहाँ अपने बहिरन्तर जीवन को व्याप्ति और क्षेत्र को और भी विस्तृत करने की इच्छा हो जाती है। यही वह स्तर है जहाँ हमारी शिक्षा दीक्षा संस्कार आदि दृष्टिकोण तथा मूल्य भावना का कार्य होता है। केवल सुविधा के लिए मैं इसे मनोमय जीवन का दूसरा स्तर कहूँगा। पहला स्तर निजबद्धता का स्तर है। इस दूसरे स्तर पर विकासशील मनुष्य की वास्तविक आत्मचेतना सक्रिय रहता है। यह सक्रिय आत्मचेतना हमारे अनुभवो को अधिकाधिक व्याख्यात और व्यवस्था-बद्ध करके उज्ज्वल और प्राजल करती हुई अपने आपको परिपूत करती रहती है। प्राजल और उज्ज्वल हुए ये अनुभव हमारे हृदय मे संचित होते जाते है। उनके स्तर पर स्तर बनते और बदल जाते है। नानात्मक वृत्तियो के कारण ये अनुभव विशृंखल राशि रूप मे नही वरन् व्यवस्था रूप मे हृदय मे स्थित होते हैं।

ध्यान मे रखने की बात है कि वास्तविक सौंदर्यानुभवो के अर्थात् कलात्मक अनुभवो के क्षण मे अर्थात् मनोमय जीवन के तीसरे स्तर पर जब संवेदनात्मक उद्देश्यो मे प्रेरित कल्पना जीवन विधान करती है तब उस जीवन विधान के अनुभव-तत्त्व (जो दूसरे स्तर मे प्राप्त हुए) ऐसी संचित अनुभव-व्यवस्था से प्रस्फुटित होकर उस तीसरे अर्थात् कलात्मक क्षण को उपलब्ध होते है। संक्षेप मे विधायक कल्पना संवेदनात्मक उद्देश्यो द्वारा विचलित किये गए जिन अनुभवो को प्रस्तुत करती है वे अनुभव इसी दूसरे स्तर मे समाविष्ट रहते है। मनोमय जीवन के इस दूसरे स्तर पर प्राप्त होने वाले अनुभव यदि अल्प है अथवा उनमे वैभिन्न्य नही है या लेखक द्वारा उनका उचित मूल्यांकन नही हो पा रहा है फिर उन्हे प्रकार मे हार दिया गया है तो ऐसी स्थिति इस दूसरे स्तर के भाव और दारिद्र्य के कारण लेखक की कला भी छिछली सतही निरी-व्यक्तिबद्ध होगी। साथ ही उसका व्यक्तित्व भी सीमित सतही और अस्वच्छ होता है। इसी स्तर के विकास की पुष्टता पर उसकी कला की पुष्टता निर्भर है।

इसी बात को ध्यान में रखते मुझे यह प्रतीत होता है कि अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, अपने को दूसरों में मिलाने और उसमें डूब जाने का यह कार्य अधिक सावधानी से, ज्यादा गहराई में और अधिक बार होना चाहिए। कलाकार की जागरूकता का अर्थ ही यह है। अपने से परे जाना, अपने से ऊपर उठना, कोरी भावुकता नहीं है वरन् इसके विपरीत, वस्तु दर्शन या तत्त्व दर्शन का वह अनिवार्य अंग है। ज्ञान का जो मनोवैज्ञानिक गुण है, वही इसका गुण भी है। जीवन के बिना कि जिस जीवन में वह अपने से परे जाकर, अपने से ऊपर उठकर हृदय का विस्तार करता रहता है, वे सर्वोच्च कलात्मक क्षण, सौंदर्यानुभूतियों के वे क्षण जहाँ विधायक कल्पना द्वारा जीवन पुनर्रचित हो जाता है, वस्तुतः सम्भव ही नहीं है। यदि हम कलात्मक क्षण को तीसरा स्तर मानें, तो अपने से परे जाकर हृदय का विस्तार करने वाले इस साधारण स्तर को हम दूसरा स्तर ही कहेंगे।

यह कहना गलत है कि दूसरे स्तर के या उस तीसरे स्तर के मनोमय जीवन का अनुभव कलाकार के अतिरिक्त किसी अन्य को होता नहीं। नहीं, वह सचमुच अपने से परे जाना, अपने से ऊपर उठकर जीवन जगत में भागना, उसमें रमना, और इस प्रकार उदात्त प्रेरणाएँ ग्रहण करना वस्तुतः एक सहज मानवीय प्रक्रिया है। यदि यह प्रक्रिया अपूर्ण है, अधूरी है, अत्यन्त सीमित है तो ऐसी स्थिति में उस लेखक की कला भी छिछली और सतही रहेगी। किन्तु जो लेखक मनीषी है, मानव-जीवन में जिसकी दिलचस्पी गहरी है, वह कुछ भावनाओं की या मनःस्थितियों की सुन्दर आकृतियाँ उपस्थित करके सन्तोष नहीं पाएगा। वह अपने सम्पूर्ण अनुभव जीवन को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करेगा, भले ही उसकी वह अभिव्यक्ति कलावादियों की दृष्टि में असुन्दर ही क्यों न हो। निःसन्देह प्रकार की बहुत-सी कहानियों में ऊबड़खाबड़पन है फिर भी वे सुन्दर लगती हैं। क्यों है? इसलिए कि सौंदर्यात्मक प्रभाव रचना के भाव, संवेदन और कल्पना रेखाओं से शुरू होकर बाहरी अभिव्यक्ति रूपों की गठन तक चला करता है। यही कारण है कि हम लोग नज़ीर की शायरी का आनन्द उठा लेते हैं भले ही, उसमें स्थान-स्थान पर बाह्य रूपात्मक दोष मौजूद हों। सुन्दर आकृति की रचना करने वाले लोग वस्तुतः कलात्मक अभिव्यक्ति को किन्हीं विषयों तक सीमित रखना चाहते हैं। यही नहीं वरन् उन्हें किन्हीं अभिव्यक्ति पद्धतियों में ही सौन्दर्य दिखाई देता है।

यह आवश्यक नहीं है कि सौन्दर्य अनुभूति का क्षण कलात्मक अनुभव का क्षण उस अनुभूति या अनुभव की कलात्मक अभिव्यक्ति का भी क्षण हो। उसी तरह यह भी ज़रूरी नहीं है कि कलात्मक अभिव्यक्ति के कार्य के दौरान में सौन्दर्य अनुभूति का एकदम साक्षात्कार हो। कवि-श्रम न केवल प्रतिभा का

प्रकटीकरण है वह अभ्यास की भी अभिव्यक्ति है। प्रतिभा और अभ्यास के योग से कवि-कर्म निष्पन्न होता है। किन्तु आप इस प्रतिभा की क्या परिभाषा करेंगे? व्यक्ति-व के विशेष विकास प्राप्त जो आभ्यन्तर गुण हैं और गुण-धर्म हैं वही प्रतिभा है। कवि-कर्म श्रम-साध्य है। उसके लिए रियाज़ की ज़रूरत होता है। अभिव्यक्ति सम्पन्न बनाने की ज़रूरत होती है। यह अनिवार्य नियम नहीं है कि कवि-कर्म या कलाकृति की रचना का क्षण कलात्मक अनुभूति या सौन्दर्यानुभूति का उच्चतम क्षण हो। अभिव्यक्ति-प्रयत्न एक दूसरे प्रकार का एक अन्य स्तर का मन है कि जिस स्तर में शब्द, मुहावरे, बिम्ब, स्वर आदि के स्वरूप की चुनना हृदय में उठते हुए भावों के स्वरूप में रखते हुए प्रतिकूल शब्दों, बिम्बों आदि को निकालकर अनुकूल को रखा जाता है। एक ओर लेखक अपने भावों के प्रति उद्बुद्ध तो दूसरी ओर वह शब्दों के प्रति जागरूक रहता है। वह क्षण कवि-कर्म की विशेष दृष्टि से आलोचन का क्षण भी होता है क्योंकि कवि कवि-हृदय में उमड़ते भावों में संगति उपस्थित करना चाहता है अनन्तर ऐसे भाव भी उत्पन्न होते हैं जो मूल भाव से सम्बद्ध होते हुए भी अत्यन्त सौन्दर्य-सम्पन्न होते हुए भी की गई रचना के भीतर जो संगति स्थापित हो चुकी है उसमें जम नहीं पाते और अवान्तर प्रतीत होते हैं। किन्तु यदि उन्हें महत्त्वपूर्ण जानकर ठूँस-ठाँस की जाए तो दूसरे प्रकार की संगति के लिए प्रयत्न करना होगा क्योंकि ठूँस-ठाँस से पहले प्रकार की संगति तो टूट-फूट चुकी है। संक्षेप में सर्जनात्मक उद्देश्यों द्वारा उनकी अपनी दिशा में परिचालित होने वाली विधायक कल्पना द्वारा जीवन का जो पुनर्रचना हुई है उसमें डूबकर आह्लाद ग्रहण करने वाली ज्ञान प्राप्त करने वाली जो अनुभूति है—वह जो कलात्मक अनुभूति या सौन्दर्य अनुभूति है उसके कुछ अंशों के अतिरिक्त कवि-कर्म का आनन्द भी उन्हीं क्षणों होता रहता है।

मनुष्य मन उदास होकर ज़िन्दगी में गहरी दिलचस्पी लेने लगता है। मानव जीवन उसका मूल विषय हो जाता है। और उस जीवन की प्रेरणाएँ उसे बेचैन करती हैं। वह कार्य की ओर भी प्रवृत्त होता है। इसलिए हेमिंग्वे और काडवेल स्पेन के युद्ध में गये थे। अपनी इन भीतरी कलात्मक प्रेरणाओं के कारण ही वे उस ओर उन्मुख हुए। अनेकानेक रूसी लेखकों ने अक्टूबर क्रान्ति में और दूसरे विश्वयुद्ध में अपने देश की ओर से भाग लिया। यही कारण है कि सार्त्र आज भी अपने देश की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं में और देशवासी जनता के जीवन में दिलचस्पी रखता है।

यह कहना बिल्कुल गलत है कि कलाकार के लिए राजनैतिक प्रेरणा कलात्मक प्रेरणा नहीं है, अथवा विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति कलात्मक अनुभूति नहीं है बशर्ते कि वह सच्ची वास्तविक अनुभूति हो, छद्मजात न हो। यह

बिलकुल सही है कि कलाकार की प्रवृत्ति राजनीतिक या दार्शनिक की प्रवृत्ति नहीं है।। वह राजनीतिक क्षेत्र में भी जिन आदर्शों को लेकर जाता है वे आदर्श हृदय के अपरिसीम विस्तार के आवेश में सम्बद्ध होने के कारण उस कलाकार के लिए तो कलात्मक ही हैं। वह राजनीतिक कौशल प्राप्त करने के लिए राजनीति में नहीं जाता, पद प्राप्ति के लिए या कीर्ति के लिए भी वह वहां नहीं जाता वरन मानव-जीवन के एक क्षेत्र में भोगने रस लेने, ज्ञान-दीप्ति प्राप्त करने और उसे उत्तमतर बनाने और उचित दिशा में परिवर्तित करने के लिए वहाँ जाता है। इस विशेष अर्थ में उसके लिए राजनीतिक आदर्श कलात्मक ही है। यदि वह दर्शन के क्षेत्र में भी जाता तो इसलिए नहीं कि वह पूर्वप्राप्त दर्शनों की राह छोड़कर एक नयी पद्धति चलाये वरन इसलिए उसे अपनी और दूसरों की जिन्दगी का एक बड़ा डिफेंस मिल सके। हाँ, यह सम्भव है कि इस बीच लगे हाथ वह अपना एक नया वाद चला दे, लेकिन यह तो अनायास ही होता है। सच तो यह है कि उसकी **दार्शनिक वृत्ति, जीवन की अधिकाधिक उच्चतर परिणति के लिए होती है**—हाँ, यही बात अलग है कि वह जिसे उच्चतर कहता हो वह वस्तुतः उच्चतर न हो। संक्षेप में कलाकार के दार्शनिक प्रयत्न वस्तुतः कलात्मक प्रयत्न ही हैं।

हमारे यहाँ कुछ ऐसे महामनीषी भी हैं जो लेखक को हृदय के द्रवण से संलग्न कल्पना की व्याप्ति के क्षण में बाँध रखना चाहते हैं। वे उसे केवल उस क्षण में ही कलाकार समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि कलाकार का व्यक्तित्व धीरे धीरे बनता है, कि कलाकार के व्यक्तित्व निर्माण की भी समस्याएँ होती हैं और वे समस्याएँ और कलात्मक चेतना इसी जीवन में विकसित होती है। वे यह नहीं समझना चाहते कि वास्तविक कलाकार की हालत यह है कि उसके कलाकार की हैसियत उससे कहीं भी नहीं छूटती—कार्यालय में भी नहीं, चूल्हा फूँकते वक्त भी नहीं, लकड़ी चीरते वक्त भी नहीं, अस्पताल से दवाई लाते वक्त भी नहीं, पिताजी के पैर दाबते समय भी नहीं, कर्ज देने वाले पठान के सामने भी नहीं, बालक के जन्म के समय भी नहीं, श्मशान-यात्रा में भी नहीं, प्रेताग्नि में लकड़ी डालते वक्त भी नहीं। कलाकार की वह छाया, वह व्यक्तित्व, वह हैसियत उसके साथ-साथ लगी हुई है, वह हर जगह हर मौके पर है। हाँ, हो सकता है कि कहीं वह अधिक तीव्र और उद्दीप्त होगी, कहीं अल्प और मंद।। पाँच बजकर एक मिनट पर कम तेज और पाँच बजकर दस मिनट पर ज्यादा तेज। संक्षेप में कलाकार का एक सच्चा वास्तविक मनोमय जीवन होता है, जो उसके साथ साथ चलता रहता है, चाहे वह जहाँ जाय जहाँ रहे। मुश्किल यह है कि बहुत से लेखक ऐसे होते हैं जिनका यह मनोमय जीवन बहुत छिछला, सतही, क्षणभंगुर और संक्षिप्त होता है। तो यह सम्भव है कि छन्द, भाव और भाषा पर उनका

अधिकार ज्ञान के कारण ऐसे कलाकार, जिनके पास जीवन की सामग्री वस्तुतः अल्प है, सुन्दर सुन्दर चित्राकृतियाँ प्रस्तुत करके और उनका परिनिर्माण करके व अमरता के अधिकारी हो जायँ। इस प्रकार की कल्पना साहित्यिक तथा प्रकाशकों के समाज की वस्तुस्थिति पर निर्भर रहता है, युग की विशेषताओं पर निर्भर रहती है। चूँकि वह हमारा मूल विषय नहीं है, इसलिए उसके सम्बन्ध में हम चुप रहेंगे। हम तो सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि मनोमय जीवन का यह जो दूसरा स्तर है वह कलाकार के लिए न केवल महत्त्वपूर्ण है वरन् सच्चे कलाकारों के लिए वह अत्यन्त स्वाभाविक ही होता है। इसी दूसरे स्तर के मनोमय जीवन के अन्तर्गत न मालूम कितने ही प्रकार की समस्याएँ उसके हृदय को स्पर्श करती रहती हैं, न जाने कितने ही उच्च जीवन-चित्र उसे भीतर से प्रेरित करते हैं। साथ ही नये-नये जीवन-क्षेत्रों के अनुभव प्राप्त करने की, प्राप्त करते रहने की उसे इच्छा होती है।

साधारणतः यह देखा गया है कि हमारा लेखक प्रारम्भिक प्रयत्नों के अनन्तर प्राप्त हुई आपेक्षिक ख्याति के उपरान्त, आर्थिक सुसज्जता, ऊपरी पालिश और अच्छी जिन्दगी बसर करने की ओर प्रवृत्त होकर ऊँचे प्रकाशकों, ऊपरी अधिकारियों, श्रेष्ठ सम्पर्कों और शक्तिशाली तत्त्वों से गाढ़े सम्बन्धों को प्राप्त करने के लिए छटपटाता रहता है। यही वह आधार भूमि है जहाँ वह वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का प्रयोग करता है। इस प्रकार के जीवन में उसे अनेक प्रकार की सफलताएँ और असफलताएँ होती हैं। यही नहीं, जो सम्बन्ध और जो सम्पर्क प्राप्त होते हैं वे इतने प्रगाढ़ और आत्मीय नहीं हो पाते कि मन की तृप्ति हो। मन को न केवल प्रेम चाहिए, उसे एक ऐसी दिशा भी चाहिए कि जिस ओर वह जिन्दगी मोड़ सके। बस यहीं नहीं हो पाता, वह दिशा नहीं मिल पाती। फलतः उन सम्बन्धों और सम्पर्कों को बनाये रखने के लिए, श्रेष्ठता और उत्तमता की बैठक में आने जाने के लिए, उनमें से एक बनने के लिए वह चाहे जो करता है। हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में एक लम्बे अर्से से दो विशेष वर्ग काम करते आ रहे हैं। एक को हम कहेंगे सुसम्पन्न उच्च मध्यवर्ग और दूसरे को हम कहेंगे गरीब निम्न मध्यवर्ग। इस सुसम्पन्न मध्यवर्ग ने हिन्दी साहित्य में बहुत कुछ काम किया है। पन्त, प्रसाद आदि इसी सुसम्पन्न मध्यवर्ग की प्रगाढ़ छाया-माया के एक अंग थे। किन्तु प्रेमचन्द नहीं। प्रेमचन्द और नन्ददुलारे वाजपेयी के बीच जो विवाद चल पड़ा था वस्तुतः वह दो विपरीत प्रवृत्तियों, दो विपरीत रुचियों, दो विपरीत रवैयों, दो प्रतिकूल दृष्टिकोणों की आपसी लड़ाई थी। नन्ददुलारे वाजपेयी और प्रेमचन्द की मुठभेड़ विचारधारागत थी। प्रेमचन्द की जन-तान्त्रिक मनोधारा भारतीय संस्कृति के सौन्दर्यलोक में पलने वाले आध्यात्मिक माया-स्वप्नों से अनुस्यूत कलावाद से टकरा जाती थी। वाजपेयी और प्रेमचन्द का झगड़ा

आकस्मिक नहीं था। वह प्राकृतिक और अनिवार्य था।

किंतु आज के हमारे निम्न मध्यवर्गीय लेखक लोग अपने ही दरिद्र बन्धु बान्धवों को तलाक देकर उनके अपने वर्ग का त्याग करने के लिए उत्सुक रहते हैं। वे शीघ्रातिशीघ्र एरिस्टोक्रैटिक पश्चिमीकृत संस्करण बनाना चाहते हैं। ये होते खासतौर से बड़े शहरों के निम्न मध्यों के हैं। वे अपनी आधार भूमि को छोड़कर पराई आधार भूमि पर स्थित होना चाहते हैं। उच्च मध्यवर्गीयों की जीवन प्रणाली के प्रति उनके अन्तःकरण में लोभ-लालसा जगती रहती है। आश्चर्य की बात है कि बहुतेरे ख्यातिप्राप्त प्रगतिशील लेकिन एक जमाने के निम्न मध्यवर्गीय लेखकों ने भी, वही एरिस्टोक्रैटिक ज़िन्दगी अपना ली है। उन्होंने अपने वर्ग का त्याग कर दिया है। इस अभिशाप से कोई बचा नहीं है। ऐसी हालत में, उनकी प्रगतिशील भाव धारा केवल देव पूजा की भाँति आध्यात्मिक और कृत्रिम हो जाती है—भले ही वे अपनी शब्द क्रियाओं में प्रगतिशील भावना का दीपक जगायें। उन्होंने अपने ही वर्ग की जनता का त्याग कर दिया है। यही कारण है कि उनकी प्रगतिशील भाव धारा यान्त्रिक है, कृत्रिम है, देव पूजा के मन्त्रों के समान है। उनके अपने साहित्य में, निम्न मध्यवर्ग का चित्रण होते हुए भी उसमें जान नहीं है।

ऐसी स्थिति में यदि निम्न मध्यवर्ग के अन्य लेखक उच्च एरिस्टोक्रैटिक जीवन के माया-जाल में फँसकर लोभ-लालसा, ईर्ष्या और द्वेष के आवेग में जलकर उसी उच्च मध्यवर्गीय सौन्दर्याभिरुचि, मनोवृत्ति, भाव धारा आदि को अपनाकर, अन्तःकरण के नाम पर, हृदय के नाम पर, कला के नाम पर, अन्तःकरण, हृदय और कला को काट छाँटकर पेश करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!!

